



Freedom is in Peril; Defend it with all you might Jawaharlal Nehru

जंतर मंतर की गूंज दूर तक सुनाई दे रही है क्योंकि हैरान-परेशान लोगों को निजात पाने की किरण दिख रही

2-5 मंदिरों में कैद नहीं हुआ करते राम 6

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com



मिट्टी का वह घर 8

उस सुबह युवा होना जन्मत का अहसास था

हुक्मरानों को भारतीय इतिहास पढ़ना चाहिए । हमारी व्यवस्था हमेशा से ही आंदोलनकारी रही है

संजय हेगड़े

दिल्ली के जंतर-मंतर पर युवा भारत ने डेरा डाल दिया है। भोर होते ही छात्र अपने बिस्तर समेटते हैं। वे गाते हैं, बहस करते हैं और अपने जख्मों की मरहम-पट्टी करते हैं। खुद पर ही तंज कसते हुए अपनी जमात को ‘कॉकरोच जनता पार्टी’ कहते हैं। दरअसल, एक न्यायिक टिप्पणी में संघर्षरत युवाओं की तुलना तिलचट्टों से की गई थी। लेकिन इन युवाओं ने इस अपमान को ही अपना तमगा बना लिया और यही तंज एक ऐसा आंदोलन बन गया जो अब देश की राजधानी को बेचैन कर रहा है।

इसकी तात्कालिक वजह नीट परीक्षा है- अकेली परीक्षा जो तय करती है कि कौन डॉक्टर बनेगा। प्रश्नपत्र लोक हो गए और लाखों छात्रों को दोबारा परीक्षा में बैठने पर मजबूर किया गया। सालों की तैयारी, परिवार की जिंदगी भर की बचत और युवाओं की उम्मीदें सरकारी नाकामी की भेंट चढ़ गई। छात्र एक सीधा-सा सवाल पूछ रहे हैं: अगर उन्हें नियमों का पालन करना है, तो क्या हुकूमत के लिए कोई नियम-कायदा नहीं? वे परीक्षा आयोजित करने वालों से जवाबदेही मांग रहे हैं, और बदले में हुकूमत ने उन्हें धारा 144, ऑसू गैस और लाठियां दी हैं।

हुक्मरानों के लिए बेहतर होगा कि वे भारत का इतिहास पढ़ें। हमारी राजनीति हमेशा से आंदोलनों की राजनीति रही है। आजादी की लड़ाई केवल कमेटी रूमों में नहीं जीती गई थी। वह सड़कों पर, गांवों में और डांडी के नमक मैदानों में जीती गई थी। उसके बाद से हर पीढ़ी ने अपना एक आंदोलन पैदा किया, और हर आंदोलन का अंत राजनीतिक सत्ता के नए संतुलन के रूप में हुआ। साठ-सत्तर के दशक के जेपी आंदोलन ने कांग्रेस के एकाधिकार को तोड़ा। मंडल आंदोलन ने सामाजिक सत्ता के नक्शे को नए सिरे से उकेरा। 2011 के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन ने एक नई पार्टी को जन्म दिया और पुरानी सरकार को दफन कर दिया। आंदोलन ही वह जरिया हैं जिनसे भारत शासक और शासित के बीच के रिश्तों की शतों को नए सिरे से तय करता है।

इतिहास के सबसे बड़े बदलाव पर गौर कीजिए। 1920 तक भारतीय राजनीति विशुद्ध रूप से शिष्ट तौर-तरीके पर केन्द्रित थी। कांग्रेस याचिकाएं देती, ज्ञापन सौंपती और इंतजार करती। उसके नेता ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही धीरे-धीरे सुधार, सत्ता में भागीदारी और समय के साथ डोमिनियन स्टेट्स चाहते थे। फिर दक्षिण अफ्रीका से गांधी आए और उन्होंने आंदोलन का पूरा मिजाज ही बदल दिया। असहयोग आंदोलन ने आम भारतीयों से अपील की कि वे अंग्रेजी हुकूमत

समझा-बुझाकर संतुलित की गई सत्ता ही टिकती है। लाठी के दम पर बचाई गई सत्ता नहीं टिकती। भारतीय राजनीति का इतिहास कमेटियों का नहीं, बल्कि सड़कों पर उपजे आंदोलनों का रहा है। इतिहास हमें यही सिखाता है

फोटो: गैरी क्लेव



प्रदर्शनकारी एक सीधा-सा सवाल पूछते हैं: अगर हमें नियमों का पालन करना है, तो सरकार ऐसा क्यों नहीं करती?

की गुहार लगाते हैं। किसी भी हुकूमत को ऐसे देशभक्तों से डरना नहीं चाहिए; डरती केवल वही हुकूमत है जिसने जनता की बात सुनना बंद कर दिया हो।

इसके बावजूद हुकूमत का रवैया निराशाजनक रूप से औपनिवेशिक रहा है। अपनी ही संसद की ओर मार्च कर रहे निरहंते छात्रों पर लाठियां बरसाई गईं। दर्जनों को अस्पताल जाना पड़ा। इंटरनेट बंद कर दिया गया, मानो अंधेरा उस सच को छिपा सकता है जिसे दिन के उजाले ने देखा हो। सोए हुए प्रदर्शनकारियों का कैप उजाड़ दिया गया। एक बुजुर्ग गांधीवादी भूख हड़ताल पर बैठा हो और मंत्री नजरें फेरे रहे! यह किसी गणराज्य का नहीं, बल्कि ब्रिटिश ‘राज’ का स्वाभाविक चरित्र है। इसमें जनरल डायर की मानसिकता की बू आती है, जिसने जलियांवाला बाग में सोचा था कि ताकत का इस्तेमाल ‘देसियों’ को उनकी औकात सिखा

देगा। डायर की गोलियों ने सैकड़ों लोगों को मार डाला, लेकिन उन्होंने उससे भी बड़ी किसी चीज का कत्ल कर दिया: निष्पक्षता के ब्रिटिश दावे का। अमृतसर की घटना के बाद कोई भी भारतीय यह नहीं मान सकता था कि ब्रिटिश साम्राज्य न्यायप्रिय था। टैगोर ने अपनी ‘नाइटहुड’ की उपाधि लौटा दी, गांधी ने अपने पदक वापस कर दिए। हालांकि उसके बाद भी तिरंगा फहराने में 27-28 साल लग गए, लेकिन ब्रिटिश हुकूमत का नैतिक अधिकार जलियांवाला की धरती पर उसी दिन रक्त के साथ बह गया था। जो सरकारें सवालों का जवाब ताकत से देती हैं, वे सवालों को खत्म नहीं करतीं, वे अपनी ही वैधता का अंत कर देती हैं।

बुद्धिमानों का रास्ता वही पुराना संवैधानिक रास्ता ही है। युवाओं से बात कीजिए। परीक्षा तंत्र को दुरुस्त कीजिए। पेपर लोक करने वालों को सजा दीजिए, न कि

उन छात्रों को जिनके पंचें लीक हुए हैं। याद रखें, संवाद और समझाइश से पुनर्संतुलित हुई सत्ता बची रहती है, लाठी के दम पर बचाई गई सत्ता ढह जाती है।

मैंने कल रात जंतर-मंतर के वे फुटेज फिर से देखे-पढ़ियों में बंधे सिर, उधार मांगकर लाए गए मेगाफोन और बेसुध ही सही, पर पूरे दिल से राष्ट्रगान गाते युवा! मुझे वइर्सवर्थ की याद आ गई, जो पुरानी व्यवस्था को ढहाती एक पीढ़ी को देखकर लिख रहे थे: ‘उस भोर का साक्षी बनना ही परम आनंद था, लेकिन युवा होना तो साक्षात जन्मत का अहसास था।’

यह भोर इन्हीं युवाओं की है। हम बाकी लोगों में कम-से-कम इतनी शालीनता तो होनी चाहिए कि हम उनके उजाले के आड़े न आए। ■

संजय हेगड़े सुप्रीम कोर्ट में बरिश्त अधिवक्ता हैं

क्या वह प्रतिरोध स्थल तक आने की ज़हमत उठाएंगे?

जंतर-मंतर आंदोलन भारतीय लोकतंत्र में ‘नागरिक’ और ‘हुकूमत’ के बीच बदलते रिश्तों की कड़वी हकीकत को उजागर करता है

शाह रुख आलम

लुटियंस दिल्ली की सड़कें प्रधानमंत्री के मुस्कुराते चेहरे वाले होर्डिंग्स से पटी पड़ी हैं, जिनमें उन्हें किसी न किसी उपलब्धि के लिए बधाइयां दी जा रही हैं। प्रदर्शनकारी छात्रों पर हुए बर्बर पुलिसिया हमले की काली छाया में वह मुस्कान खास तौर पर खटकती है- नीचे जमीन पर तड़पते घायल नौजवान और ऊपर होर्डिंग्स पर तैरती एक दंभी मुस्कान। संभव है कि आने वाले दिनों में, अपने भरोसेमंद वफादार गृहमंत्री के इशारे पर पुलिस द्वारा पीटे गए छात्रों के प्रति संवेदना जताते हुए उनकी आवाज रूंध भी जाए। लेकिन ज्यादा उम्मीद है कि उनका ध्यान इस बात पर रहे कि कैसे विपक्ष और ‘देशद्रोहियों’ ने इसका राजनीतिकरण कर दिया। खैर, उस खौफनाक दिन की दहशत के बीच वह मुस्कुराता चेहरा बहुत साफ और चुपने वाला विरोधाभास खड़ा कर रहा था। मेरे मन में सवाल उठा- क्या होता अगर वह खुद बेइश्वक टहलते हुए प्रदर्शन स्थल पर चले आते? जिस नेता के पास आज भी इतना बड़ा जनाधार है, वह उस जगह पर पहुंचकर पूरे माहौल की कमान अपने हाथ में ले सकता था। वह प्रदर्शनकारियों को डांट-डपट भी देते, तब भी लोग शायद उनकी बात सुन लेते और इस्तीफे की मांगें शायद हवा में गुम हो जातीं। इतिहास गवाह है कि नेहरू, जिन्हें आज लगातार निशाने पर लिया जाता है, अक्सर आक्रोशित भीड़ के बीच बेइश्वक चले जाते थे

फोटो: गैरी क्लेव



सादे कपड़ों में भी सुरक्षाकर्मियों ने प्रदर्शनकारियों के साथ बर्बर व्यवहार किया

और उनसे सीधे बात करते थे। ऐसा करना किसी नेता का झुक जाना या पीछे हटना नहीं। आखिर, हमारे नेता जनता से सीधा संवाद क्यों नहीं करते? क्या वे सचमुच भीड़ में अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा को लेकर डरते हैं?

मुझे लगता है कि हुकूमत का यह डर केवल इस दलील तक सीमित नहीं है कि ‘एक मांग मान ली तो कमजोर दिखेंगे और आगे और रियायतें देनी पड़ेंगी।’ असल खेल तो विमर्श के इस

बदलते ढर्रे का है। एक स्वस्थ लोकतंत्र में आम समझ यही कहती है कि जनता की इच्छा के आगे सिर झुकाया जाए। लेकिन आज के राजनीतिक विमर्श की शुरुआत ही जनता की वैधानिकता पर सवाल उठाकर होती है - ‘क्या आप बहुसंख्यक आबादी की राय का प्रतिनिधित्व करते हैं? नहीं? तो क्या यह बात आपको देशद्रोही या गैर-वाजिब नागरिक नहीं बना देती?’ नेतृत्व से बातचीत का हक पाने से पहले लोगों पर ही यह साबित करने

का बोझ डाल दिया गया है कि वे इस देश के वैध नागरिक हैं।

हैरानी की बात तो यह है कि संवैधानिक अदालतों ने भी मौखिक टिप्पणियों में याचिकाकर्ताओं के ‘नागरिक होने की हैसियत’ पर सवाल उठाए हैं और नतीजतन अधिकारों की गुहार लगाने के उनके हक को कटघरे में खड़ा किया है। यह आंदोलन ऐसे ही एक अपमानजनक ठपे पर अपना कब्जा जमाकर, उसे सत्ता के ही खिलाफ हथियार बनाने से शुरू हुआ। इसलिए, आज हर एक नागरिक की वैधानिकता और उसकी गरिमा के सवाल को उठाना बेहद जरूरी है-और यही वह सवाल है जो इस आंदोलन के लिए अभी सबसे अहम है। इसके लिए एक व्यापक राजनीतिक दृष्टि और उसमें हर इंसान के लिए जगह की जरूरत है।

जिस दिन सुप्रीम कोर्ट ने प्रदर्शन के दौरान पुलिस बल के अत्यधिक इस्तेमाल से जुड़ी याचिका पर सुनवाई से इनकार करते हुए उसे ‘समय की बर्बादी’ करार दिया, उसी दिन मैंने देखा कि एक पत्रकार एक युवा प्रदर्शनकारी

से पूछ रहा था कि क्या उमर खालिद जैसे ‘देशद्रोहियों’ को अदालत में सफाई देने या सुनवाई का हक भी होना चाहिए? इसका सबसे आम जवाब आया: ‘यह प्रदर्शन उमर खालिद या शरजील इमाम के बारे में नहीं है।’ लेकिन मुझे लगता है कि आखिरकार यह प्रदर्शन उनके बारे में भी है- यह हुकूमत और सभी नागरिकों के बीच शक्ति संतुलन को फिर से बहाल करने की लड़ाई है। यह उन तमाम कोशिशों पर सवाल उठाने की लड़ाई है, जिनका मकसद समाज के कुछ तबकों को बेदखल करना, उनकी नागरिकता को अवैध ठहराना और उनसे उनका इंसानी वजूद छीनना है।

*

संसद मार्ग पर स्थित एक मशहूर रेस्तरां-जो राहुल गांधी का भी पसंदीदा माना जाता है- बंद है। उसका बैचैन स्टॉफ फुटपाथ पर कतार में खड़ा सिगरेट पी रहा है, आपस में गपशप कर रहा है और प्रदर्शन की गतिविधियों को देख रहा है। वहां कुछ ऐसे लोग भी थे जो इस पूरे मामले के ‘राजनीतिकरण’ से खुश नहीं थे, क्योंकि उनके मुताबिक इसमें ‘अन्य लोग’ भी शामिल हो गए थे-ऐसे लोग जो छात्र नहीं हैं, या अगर छात्र हैं भी तो कभी नीट परीक्षा में नहीं बैठे। कुछ लोग कह रहे थे: ‘अगर मामला शिक्षा का ही है, तो ये लोग बाकी मुद्दों पर बात क्यों कर रहे हैं?’

यह सोच आंदोलनों के भीतर हावी हो रही लालफीताशाही वाली मानसिकता दिखाती है। पहले अपनी पात्रता साबित कीजिए- क्या आप सीधे तौर पर प्रभावित हैं? दूसरा, यह आंदोलन आपकी तमाम शिकायतों के निपटारे का एकल खिड़की केन्द्र नहीं बन सकता। कोई बेतुकी नारेबाजी नहीं होगी, कोई अन्य व्यापक सरोकार यहां नहीं उठाए जाएंगे। नए भारत ने एक ऐसी व्यावसायिक होड़ वाली अर्थव्यवस्था को जन्म दिया है, जहां अगर आप किसी ऐसे मुद्दे पर सहानुभूति जताते हैं या उसमें हिस्सा लेते हैं जिससे आप सीधे प्रभावित नहीं हैं, तो आपको शक की निगाह से देखा जाता है।

शेष पेज 2 पर ►

हम देखेंगे



पेज 2

जब कॉकरोच उठ खड़े हुए

टैपयन बनर्जी

कहीं अधूरी न रह जाए यह जीत!

आकार पटेल

पेज 3

हमारी साड़ी विरासत के अभिरक्षक

अली खान महमूदाबाद

ऐतिहासिक विद्रोह और नैतिक केन्द्र की तलाश

अपर्णा वैदिक

पेज 4

अनदेखे चेहरे एक दूसरे की ओर बढ़ा रहे हैं हाथ

नंदलाल शर्मा

पटकथा लेखकों के अलावा किसी को संवाद में यकीन नहीं

चंद्रिल मट्टाचार्य

पेज 5

कहीं आगे जा चुकी है इस कोलाहल की गूंज

हरजिंद

जब उठ खड़े हुए कॉकरोच

ट्रैपायन बनर्जी

टीक-ठीक याद नहीं कि ‘कॉकरोच जनता पार्टी’ वाले वायरल ट्रेंड पर पहली बार नजर कब गई। बेशक, तमाम लोगों की तरह नीट पेपर लीक से उपजे संकट पर मेरी भी नजर तो थी ही। वैसे भी, मौजूदा सरकार के दौर में बार-बार होने वाले पेपर लीक के तमाशों की हमें आदत सी हो चुकी थी और हम इससे थक चुके थे। 2014 के बाद से, भारत में परीक्षा में पेपर लीक की दर्जनों, बल्कि संभवतः सौ से ज्यादा घटनाएं हम देख चुके हैं। ‘द वायर’ में प्रकाशित एक विश्लेषण के अनुसार, 2015 और 2026 के बीच परीक्षा में धोखाधड़ी के 148 मामले दर्ज हुए, जो 2015 से पूर्व की दर से लगभग दोगुना है। ‘न्यूज़लैंड्री’ ने पेपर लीक के उन मामलों का विश्लेषण किया, जिनमें एफआईआर हुई थी या परीक्षाएं रद्द हुई थीं। विश्लेषण के अनुसार, इन घोटालों ने कम से कम 6.5 करोड़ उम्मीदवारों का जीवन प्रभावित किया था। लेकिन वह खास ज़ख़्म बाद में लगा।

जिस चीज ने मुझे वाकई और लगभग तत्काल अपनी ओर खींचा, ज्यादा गंभीर था। भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा एंक्टिविस्ट्स को ‘कॉकरोच’ और ‘परजीवी’ कहने के बाद (जिस आरोप से उन्होंने बाद में इनकार किया) अपनी नई-नई मजहिया वेबसाइट पर सीजेपी संस्थापक ने इस आंदोलन को ‘आलसी और बेरोजगार लोगों की आवाज’ के तौर पर पेश किया और पांच मुख्य मांगें रखीं। ताकतवर लोगों के अपमानजनक शब्द उन्हीं पर वापस उछालने का यह बेबाक अंदाज़ मुझे अच्छा लगा। ये मांगें परीक्षा मात्र से जुड़े घोटालों से कहीं आगे की बातों पर इशारा करती थीं: भारत की उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था का धीरे-धीरे और लगभग न के बराबर महसूस होने वाला पतन। उन्होंने इशारा कुछ जजों के पक्षपाती रवैये, एसआईआर प्रक्रिया के ज़रिये चुनाव आयोग के कामकाज, सत्ताधारी दल द्वारा राजनीतिक दल-बदलुओं की खुलेआम खरीद-फरोख़्त, मीडिया के बड़े हिस्से की हद से ज्यादा और बेशर्मांपरी पक्षपातपूर्ण भूमिका, और विधानसभाओं में 50 प्रतिशत महिला आरक्षण की आड़ में परिसीमन (डिलिमिटेशन) को आगे बढ़ाने जैसी खतरनाक चाल की ओर था। असल में, वे देश के लोकतांत्रिक संस्थानों के धीरे-धीरे कमजोर पड़ने की बात कर रहे थे- पेसा पतन जो किसी भी ईमानदार सोच वाले व्यक्ति को साफ़ दिखाई देता है।

कहीं अधूरी न रह जाए यह जीत

आकार पटेल

इस अख़बार के संपादक ने मुझसे मौजूदा विरोध प्रदर्शनों के संदर्भ में तीन बातों पर विचार करने को कहा - क्या इस आंदोलन ने मुझमें उम्मीद जगाई? क्या मुझे डर है कि ये प्रदर्शन समय के साथ ठंडे पड़ जाएंगे? और मैं इस ऐतिहासिक मोड़ से क्या परिणाम निकलने की उम्मीद करता हूं? पहले सवाल के जवाब में मेरा उत्तर ‘हां’ है। सभी प्रकार के विरोध और असहमति ऐंक्टिविस्टों में उम्मीद जगाते हैं, क्योंकि इनकी बुनियादी धारणा ही यह है कि राज्य व्यवस्था अपूर्ण है और उसमें सुधार केवल जवाबदेही की मांग के ज़रिये हो सकता है। भ्रष्टाचार अपने व्यापक अर्थ में राज्य के तंत्र को खोखला करता है, और ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मौजूदा भाजपा सरकार के रूप में यह राज्य व्यवस्था लोक सेवक के बजाय मालिक की तरह सलूक करती दिखती है।

यह विशेष विरोध प्रदर्शन इसलिए प्रेरणादायी है क्योंकि युवाओं ने बहुत कम संसाधनों के साथ शुरुआत की और इसे एक विशाल आकार दे दिया। शुरू में उनका माखौल उड़ाया गया, लेकिन उनकी प्रतिबद्धता, साहस और दृढ़ संकल्प का ही नतीजा है कि आज उनका मुद्दा हमारे इस विशाल देश की सबसे बड़ी खबर बन चुका है।

दूसरे सवाल पर मेरा मानना है कि यह आंदोलन सफल होगा और शिक्षा मंत्री का जाना तय है। यह विरोध प्रदर्शनों के खतम होने के फौरन बाद हो सकता है, या फिर उन्हें किसी और विभाग में भेजा जा सकता है या फिर उन्हें किसी तरह के फेरबदल की आड़ में चलता किया जा सकता है। जो भी हो, नीट परीक्षा में गड़बड़ी की बात स्वीकार करने के बाद भी मंत्री को पद पर बनाए रखने की जिद पूरी तरह से तर्कहीन है। छात्र आंदोलन ने मंत्री का पद पर बने रहना असंभव बना दिया है और सरकार भी यह बात भली-भाँति जानती है।

सरकार की पूरी प्रतिक्रिया- शुरू में आंदोलन की अनदेखी करने से लेकर उसके नेताओं का अपमान करने, फिर पुलिसिया दमन और आखिर में युवाओं को बदनाम करने तक- सिरे से विफल रही है, क्योंकि इसका सफल होना संभव ही नहीं था।

मुझे यह भी लगता है कि शिक्षा मंत्री का इस्तीफा उस बड़ी जीत का छोटा सा हिस्सा मात्र होगा, जिसे युवा प्रदर्शनकारियों ने हासिल किया है। एक वास्तविक लोकतंत्र वही है जहां जन-दबाव सरकार को अपनी नीतियां और फैसले बदलने पर मजबूर कर दे। देश के छात्र आज उसी रास्ते पर चल रहे हैं, जिस पर किसान उनसे पहले चल चुके हैं।

तीसरे सवाल- कि मैं इस मोड़ से किस नतीजे की उम्मीद करता हूं- के दो पहलू हैं। निसंदेह, मैं चाहता हूं कि छात्रों को ईसाफ मिले और सरकार अपनी जवाबदेही स्वीकार करे। लेकिन मैं यह भी चाहता हूं कि शिक्षा क्षेत्र का यह संकट हम सब को, और खास तौर पर सरकार को, इस अहम सवाल पर ध्यान केन्द्रित करने में मददगार बने कि आगे की राह क्या होगी।

यह शीशे की तरह साफ है कि आने वाले समय में देश को सबसे बड़ी दो समस्याओं का सामना करना पड़ेगा- ये हैं रोजगार और गरीबी। कृषि श्रम को मैय्नुफैक्चरिंग और फिर

आभासी ही क्यों न रहा हो, इन मुद्दों पर इतने युवाओं को एक साथ आते देखना अंदर ही अंदर अच्छा लगा। देश के युवाओं पर केन्द्रित इस प्लेटफ़ॉर्म ‘कॉकरोच जनता पार्टी’, को लाखों लोगों द्वारा इंस्टाग्राम पर फ़ॉलो किया जाना भी खास था। बार-बार उनके पेज पर जाकर देखता कि फ़ॉलोअर्स किस तरह बढ़ रहे हैं। लेकिन, तमाम अन्य लोगों की तरह, मैंने भी इसे ज्यादा महत्व नहीं दिया। खुद से यही कहता रहा कि ऑनलाइन नाराजगी की ऐसी लहरें इसी तरह उठती हैं और फिर इंटरनेट की कभी न थमने वाली लहरों में गुम हो जाती हैं!

अभिजीत आखिरकार 6 जून 2026 को भारत लौटे, तो हमारे जैसे अनेक लोगों को उनकी सुरक्षा की चिंता थी। हम देख चुके थे कि पूर्व में विरोध-प्रदर्शनों से जुड़े कार्यकर्ता किस तरह किसी न किसी बहाने निशाना बने, हिरासत में लिए गए या उनकी आवाज दबा दी गई। याद है कि पढ़ाई-लिखाई में अच्छा प्रदर्शन करने वाला यह छात्र हाथों में आम्बेडकर की किताब लिए एयरपोर्ट से निकला था और जान-बूझकर आम्बेडकर का जिक्र किया था। संदेश बहुत ढका-छिपा नहीं था, इस वजह से काफ़ी पसंद आया।

अभिजीत और उनके कुछ साथियों ने दिल्ली के जंतर-मंतर से अपना अभियान शुरू किया- जिसमें उनके आस-पास वामपंथी छात्र कार्यकर्ता भी मौजूद थे और नीट घोटाले को लेकर शिक्षा मंत्री धर्मेन्द्र प्रधान के इस्तीफ़े की मांग कर रहे थे। मुझे थोड़ी उम्मीद तो जगी, लेकिन सतर्क भी था। हमारी पीढ़ी ने देखा है कि किस तरह नागरिक समाज के विरोध-प्रदर्शनों के तेज़ी से उठने वाले ज्वार का कई बार दक्षिणपंथी ताकतें किस तरह अपने फायदे के लिए इस्तेमाल कर लेती हैं।

कई दोस्त इसकी तुलना अन्ना हजारे आंदोलन से कर रहे थे और उनकी नज़र में यह महज एक ‘बफ़र’ या दिखावे का आंदोलन था। शक करने की वजहें भी थीं। लोगों ने उस आंदोलन के बाद अपनी उम्मीदें धराशाई होते देखी थीं; मौजूदा सरकार के सत्ता में आने की राह बनाने में जिसकी बड़ी भूमिका रही। लेकिन एक बड़ा फ़र्क़ भी था, जिसे वे शायद नज़रअंदाज़ कर रहे थे। अन्ना आंदोलन से सिर्फ़ भाजपा को फ़ायदा हो सकता था, क्योंकि तब वही मुख्य विपक्षी पार्टी थी। जो आंदोलन खुद भाजपा के खिलाफ़ हो, वह दक्षिणपंथी ताकतों की मदद कैसे कर सकता है? एक और अहम फ़र्क़ था। मुझे अन्ना आंदोलन

अच्छी तरह याद है। उसमें चीज़ें पहले से तय या ‘स्टेज-मैनेज्ड’ लग रही थीं, अरएसएस की लामबंदी स्पष्ट थी, और मीडिया लगातार एक ही नैरेटिव आगे बढ़ा रहा था। लेकिन यहां, मीडिया का एक बड़ा हिस्सा सीजेपी के इस आंदोलन के प्रति आलोचनात्मक, बल्कि विरोधी रुख अपनाए हुए था। फिर भी, जैसा कि अचा्नाक शुरू हुए ऐसे किसी भी आंदोलन को देखकर होना चाहिए, और जिसे बड़े पैमाने पर समर्थन मिल रहा हो, मुझे शक था। इसलिए भी कि उसके मुख्य चेहरे कुछ महीने पहले तक ज्यादातर लोगों के लिए अनजान थे।

शुरुआत में यह बहुत धीमी रही। देश भर में अभिजीत की रैलियों और सभाओं में अच्छी-खासी भीड़ जुटती, लेकिन किसी को अंदाज़ा नहीं था कि आगे चलकर आंदोलन कितना बड़ा रूप ले लेगा। 20 जून से उन्होंने जंतर-मंतर पर दोस्तों, साथियों और अलग-अलग तरह के लोगों के एक छोटे से समूह के साथ अनिश्चितकालीन धरना शुरू किया; जो धीरे-धीरे बढ़ता गया। तब तक, यह राष्ट्रीय स्तर पर ध्यान खींचने लगा था और विपक्षी दलों, नागरिक समाज के समूहों और आम नागरिकों का लगातार आना-जाना जारी था। 28 जून को एंक्टिविस्ट और शिक्षाविद सोमन वांग्चुक भी इसमें शामिल हो गए और वामपंथी छात्र नेताओं के साथ भूख हड़ताल शुरू कर दी, जिससे बड़ी संख्या में लोग जुटने लगे। अब आंदोलन को नज़रअंदाज़ करना और भी मुश्किल हो गया। वे किसी भी तरह लोगों की भावनाओं को गहराई से छू चुके थे। लेकिन लगभग एक महीना होते-होते सब कुछ बदल गया। उनके आह्वान पर 20 जुलाई को संसद मार्च के लिए हजारों छात्र और युवा पहुंच गए। स्कूल-कॉलेज के छात्रों ने मानो राजधानी को ही घेर लिया था। देशभर से सामने आए वीडियो बता रहे थे कि यह अन्ना आंदोलन से कहीं ज्यादा बड़े स्तर का था और मीडिया पर बंदिश तथा सुनियोजित दमन के बावजूद जारी रहा। छोटे शहरों में जिस तरह यह ख़मोशी से फैला, लंबे अतीत में मैंने नहीं देखा था।

अपने खिलाफ़ लाठीचार्ज, वॉटर कैनन, आंसू गैस और पैलेट गन के बेरहम इस्तेमाल के बावजूद दिल्ली में प्रदर्शनकारी जिस तरह से डटे हुए हैं, कुछ लोग इसकी तुलना बांग्लादेश, नेपाल और श्रीलंका जैसे पड़ोसी देशों में युवा उभार वाले विरोध-प्रदर्शनों से कर रहे हैं। स्वतःस्फूर्त होने, दायरे और विस्तार के पैमाने से तुलना बेतुकी



मुख्यधारा के मीडिया की अनदेखी के बावजूद, सोशल मीडिया वीडियो से पता चल रहा है कि यह आंदोलन पूरे भारत में कैसे गूँज रहा है



उनकी वित्ताएं सिर्फ़ पेपर लीक होने या शिक्षा मंत्री को पद से हटाए जाने तक ही सीमित नहीं हैं; (बाएं) नकाब पहने यह प्रदर्शनकारी कहता है, ‘हम सब कॉकरोच हैं’

नहीं लगती। फिर भी, भारत जैसे विशाल देश में, पड़ोसी देशों वाले प्रदर्शनों के पैमाने पर कुछ भी होना मुश्किल है। अभिजीत और अन्य लोग भले ही लगातार इनकार करते रहे हों कि उनकी मंशा संसदीय प्रक्रिया से हटकर सरकार गिराने की है, तुलना जारी है।

इस विरोध के नतीजों के बारे में कुछ कहना या इसकी सटीक तुलना करना जल्दबाजी होगी। लेकिन समझना जरूरी है कि इसके उठने की वजह सिर्फ़ इसकी तात्कालिक मांगों तक में सीमित नहीं है। प्रदर्शनकारी शायद पूर्ण दक्षिणपंथी वर्चस्व और मोदी को एक लोक-लुभावन नेता के तौर पर पेश किए जाने के विरोधाभास को समझ रहे हैं, जबकि उनकी अपनी ज़िंदगी की हकीक़त इस छवि के बिल्कुल उलट है। यह इंटरनेट और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के दौर में बड़ी हुई पीढ़ी है; और अनिश्चितता से जूझते हुए भी दुनिया के बारे

में पिछली किसी भी पीढ़ी की अपेक्षा कहीं ज्यादा जानकारी रखती है। और उदारवादी लोकतांत्रिक संस्थाओं के कमज़ोर पड़ने का मतलब ही यह है कि सड़कों पर उतरकर विरोध-प्रदर्शन ही इस अनिश्चित और मुश्किल हालात से बाहर निकलने का एकमात्र रास्ता बचा था।

क्या मुझे इस विरोध-प्रदर्शन को लेकर उम्मीद भरे नज़रिये से सोचना चाहिए? क्या यह बिना कोई असर छोड़े ख़तम हो जाएगा, या सत्ता की ताकत इसे कुचल देगी, या अपनी फ़ौरी मांगें पूरा होते ही यह ठंडा पड़ जाएगा? या यह हमें कुछ इस तरह चौकाएगा जिसका हम अभी अंदाज़ा भी नहीं लगा सकते? मुझे नहीं लगता कि किसी के पास इसका स्पष्ट जवाब है। लेकिन एक बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता, यहाँ तक कि मुख़र आलोचक भी इसे नकार नहीं सकते: हम कुछ ऐतिहासिक घटित होते हुए देख रहे हैं। ■

क्या वह प्रतिरोध स्थल तक आने की ज़हमत उठाएंगे?

►► पेज एक का शेप

कुछ लोग दलील देते हैं कि शिक्षा के मुद्दे को आवा क़र इसका राजनीतिकरण किया जा रहा है। मानो सरकारी शिक्षा के बजट में कटौती, निजीकरण, इतिहास का पुनर्लेखन और पाठ्यक्रम में प्रायोजित बदलाव जैसी चीज़ें अलग-अलग ख़ानों में बंटी हैं और उस पूरे नज़रिये को चुनौती दिए बिना इनसे लड़ा जा सकता है जहां से ये नीतियां उपजती हैं।

ऐसा लगता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश का एक खास प्रोटोकॉल तय कर दिया गया है। इसे एक के अंदर एक बने घेरों की तरह समझिए। केन्द्र में वे ‘आदर्श नागरिक’ हैं जो सरकार से कभी सवाल नहीं करते, बल्कि सवाल उठाने वालों की नीयत पर उंगली उठाते हैं। उसके बाद वे लोग आते हैं जिन्हें प्रदर्शन तो करना है, लेकिन वे ‘अच्छे घर-परिवार’ से आते हैं और सरकार के प्रति अपना पुराना समर्थन साबित कर सकते हैं- यानी वे वैचारिक रूप से सरकार के विरोधी नहीं हैं। अगर उनकी ‘एकसूत्री मांग’ मान ली जाए तो वे वापस मुख्यधारा के घेरे में लौट सकते हैं। और फिर सबसे बाहर वे लोग हैं जो हमेशा संदिग्ध हैं: मुसलमान, कश्मीरी, सीएए-विरोधी प्रदर्शनकारी, ‘अर्बन नक्सल’, किसान, आदिवासी और दलित। बाहरी घेरे वाले इन लोगों को पेपर लीक जैसे मामले पर हो रहे विरोध प्रदर्शन को प्रदूषित करने की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए।

रणनीतिक रूप से ‘कॉकरोच जनता पार्टी’ (सीजेपी) भी इस तर्क के आगे झुकती दिखी है और उसने मंज़ूरशुदा नारों की एक सीमा तय कर दी है। लेकिन स्वाभाविक और भावनात्मक रूप से यह आंदोलन इस क्षणिक रणनीतिक सोच के दायरे से बहुत आगे निकल चुका है। यहां की नारेबाजी अब किसी बंदिश में रहने वाली नहीं है। देखना यह है कि क्या सरकार इस पर और आक्रामक रुख अपनाएगी और बातचीत को खींचकर इस आधार पर नारों में नई दरार पैदा करेगी कि किसे बर्दाश्त किया जा सकता है और किसे नहीं।

शांतिपूर्ण प्रदर्शन का महत्व सर्वोपरि है। फिर भी इस बात को दोहराया जाना चाहिए कि शांति बनाए रखने का वादा प्रदर्शनकारियों से ही मांगा जाता है। जबकि राज्य द्वारा वैध हिंसा की धमकी-जिसका इस्तेमाल पूरी तरह हड़क़मत

की मर्जी पर निर्भर है- हमेशा हवा में तैरती रहती है। हमें राज्य से भी शांतिपूर्ण व्यवहार के वादे की मांग करनी चाहिए। यह कोई नामुमकिन बात नहीं। उम्मीद की जाती है कि पुलिस को जन-आक्रोश, नारेबाजी और हल्की-फुल्की धक्का-मुक्की के बीच संयम से काम लेने के लिए प्रशिक्षित है- ठीक वैसे ही जैसे प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षक अपने अनुशासनहीन छात्रों से निपटते हैं। इसके बजाय, पुलिसिया कार्रवाई प्रतिशोधात्मक हो जाती है, जिसमें अक्सर इस बात का गुस्सा दिखता है कि आम जनता की राज्य से सवाल पूछने की हिम्मत कैसे हुई। इस पूरी अफ़रातफ़री में सरकार से वैचारिक रूप से जुड़ी निजी सेनाओं की बेरोकटोक घुसपैठ देश को एक भयावह अंधेरे की ओर ले जाने का संकेत है।

ऐसे में मुसलमानों को क्या करना चाहिए? सोशल मीडिया पर इस बात को लेकर बहस छिड़ी है कि मुस्लिम युवाओं को इस आंदोलन में शामिल होना चाहिए या इससे दूर रहना चाहिए? कुछ लोग कह रहे हैं कि उन्हें शामिल होना चाहिए तो कुछ सावधानी बरतने की सलाह दे रहे हैं- यह जानते हुए कि एक मुसलमान सड़कों पर भी उतना ही असुरक्षित है जितना कि कानून के सामने।

मुझे नहीं लगता कि मुसलमान अपनी हर बात के लिए उलेमा या किसी धर्मीनरूपेक्ष नेतृत्व की सलाह के मोहताज़ हैं। वे कोई राजनीतिक रूप से एक ही ढेर पर चलने वाला समूह नहीं हैं। मुस्लिम युवा वही करते हैं जो उन्हें सही लगता है-अगर वे चाहेंगे तो आंदोलनों में जरूर जाएंगे, क्योंकि यह देश उनका भी उतना ही है जितना किसी और का। कुछ लोग शायद इसलिए दूर भी रहें क्योंकि उन्हें इसकी जो भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है, वह उनके बस की बात नहीं।

लेकिन इस सब के बीच, सार्वजनिक जीवन के उन एक के अंदर एक बने घेरों को देखकर मुझे एक नारा याद आया स्वयं को ‘सनातनी’ बताने वाला उपद्रवी कुछ भी करे, उसके लिए सब माफ़ है, लेकिन बाकी दूसरों के लिए सवाल मुंह बाए खड़ा रहता है- ‘कोई करे तो डेमोक्रेसी, कोई और करे तो कॉन्सपिरेंसी!’ ■

शाह छलख आलम सुप्रीम कोर्ट में संविधान से जुड़े मामलों की वकौल और मानवाधिकार ऐक्टिविस्ट हैं

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादक **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि ईंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।



हमारी साझी विरासत के अभिरक्षक

हमारे युवा प्रदर्शनकारी यह देखें कि उन्हें दूसरे भारतीयों की शिकायतों से क्या चीज़ जोड़ती है। वे एक साझा नैतिक आधार भी खोजें

अली खान महमूदाबाद

विरोध प्रदर्शन वैचारिक चेतना और जागरण का माध्यम रहे हैं। यह चेतना उनके लिए भी है जो अपने अतीत की भूलों को स्वीकार करते हैं, उनके लिए भी जो खुद को राजनीति-निरपेक्ष मानते हैं, और उनके लिए भी जिन्हें लगता है कि राज्य केवल हाशिये पर मौजूद उपद्रवी तत्वों को ही निशाना बनाता है। आज भारत भर में तमाम विरोध प्रदर्शन हो रहे हैं, लेकिन जिस आंदोलन ने किशोरावस्था और वह भी 20 वर्ष के आसपास के लाखों-लाख युवाओं की सोच को झकझोर डाला है, वह नीट परीक्षा के सवाल लीक होने के खिलाफ जारी प्रदर्शन है।

एक तरफ दिल्ली की सीमाओं की ओर बढ़ते किसान हैं, तो दूसरी तरफ खुद प्रधानमंत्री ने पेपर लीक को ‘घोर पाप’ मानते हुए भी प्रदर्शनकारियों को ‘गलत राह’ पर चलने वाला करार दिया है। किसी भी बड़े जन-आंदोलन के सभी जरूरी तत्व यहां मौजूद हैं: एक व्यापक तकलीफ (प्रश्नपत्र लीक), समाधान का अभाव (जवाबदेही की अनसुनी मांग), एक साझा लक्ष्य (शिक्षा मंत्री का इस्तीफा), एक उत्प्रेरक घटना (सोनम वांगचुक का अनशन और उन्हें धरना स्थल से जबरन हटाया जाना, हालांकि उन्होंने अपना अनशन खत्म कर दिया है), व्यापक लामबंदी (सामाजिक और राजनीतिक हलकों से हजारों लोगों का जुड़ना) और आंदोलन को भड़का देने वाली चिंगारी (पुलिसिया दमन)।

यह समझना बेहद जरूरी है कि नीट प्रश्नपत्र लीक या सीबीएसई मूल्यांकन घोटाला कोई अलग-थलग घटनाएं नहीं हैं, बल्कि ये पूरी तरह जर्जर और चरमपंई हुई व्यवस्था के लक्षण मात्र हैं। भले शिक्षा मंत्री धर्मेन्द्र प्रधान इस्तीफा दे दें, आलहत्या करने वाले छात्रों के परिवारों को मुआवजा मिल जाए और नेता संसद में इन मुद्दों पर चर्चा कर लें, यह सब अधिक से अधिक केवल तात्कालिक सात्वना दे सकता है; इससे तंत्र नहीं सुधरने वाला। युवाओं को महसूस करना होगा कि वे इस ऐतिहासिक मोड़ का उपयोग अधिक बड़े बदलावों की मांग के लिए कर सकते हैं, और वे देश भर में चल रहे अन्य आंदोलनों के लिए एक सेतु का काम कर सकते हैं।

- पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और हिमाचल के किसान...
- राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में सुलगती औद्योगिक श्रमिकों की असंतोष की आग
- हरियाणा में आशा कार्यकर्ता और श्रम संघों का संघर्ष
- मध्य प्रदेश में केन-बेतवा नदी जोड़ो परियोजना का विरोध करती आदिवासी महिलाएं
- उत्तराखंड में 4,000 पेड़ों की कटाई के खिलाफ ‘चिपको 2.0’
- उत्तर प्रदेश में जौहर विश्वविद्यालय के परिसर को बचाने में जुटे छात्र
- कर्नाटक में एआई टाउनशिप के लिए जमीन के अधिग्रहण का विरोध करते किसान
- छत्तीसगढ़ में विधायकों के फ्लैट बचाने के लिए



- 70 घरों के विध्वंस के खिलाफ उठे ग्रामीण
- तमिलनाडु में सहकारी बैंक के कर्मचारियों का वेतन आंदोलन
- महाराष्ट्र में लोक सेवा आयोग की तैयारी कर रहे अभ्यर्थियों का आक्रोश
- मणिपुर में ग्राम स्वयंसेवकों की गिरफ्तारी के खिलाफ धरने पर बैठी महिला विक्रेता
- उत्तर प्रदेश में बच्ची की हत्या के खिलाफ बहुजन समाज का विरोध

प्रथमदृष्ट्या अधिकतर लोग इन आंदोलनों को एक-दूसरे से भिन्न देखेंगे। बेशक इनकी परिस्थितियां बिल्कुल जुदा हों, लेकिन यह साफ है कि वे सब एक बेहद केन्द्रीकृत और गैर-जवाबदेह राज व्यवस्था के खिलाफ खड़े हैं, जो भ्रष्ट संस्थानों द्वारा पोषित और तकनीक-केन्द्रित प्रशासनिक व्यवस्था पर टिकी है। नागरिक अपने जीवन से जुड़े अधिकारों का नियंत्रण खो रहे हैं, और नागरिकता की मूल अवधारणा ही अनिश्चितता से भर गई है।

अब अहम सवाल यह नहीं है कि ये समूह आपस में विचारधारा साझा करते हैं या नहीं, बल्कि यह है कि वे एक-दूसरे को किस नजरिये से देखते हैं और आपस में कैसे संवाद करते हैं। पहला कदम अपने सामाजिक ताने-बाने

भारत का ‘भविष्य’ दिल्ली की सड़कों पर है। भारत किसी सरकार, किसी समुदाय या किसी पार्टी का नहीं है, बल्कि यह एक साझी अमानत है जहां राज्य के जनता से रिश्ते ‘मर्यादा’ यानी नैतिक संयम के आधार पर होने चाहिए

को दुरुस्त करना है, न कि तत्काल राजनीतिक गठबंधनों के बारे में सोचना। यह चुनौती पहले सामाजिक है, और उसके बाद राजनीतिक।

आज इन समुदायों के बीच की दूरी केवल भौगोलिक नहीं बल्कि भावनात्मक भी है। सोशल मीडिया ने हमें दूसरों के दुखों के प्रति असंवेदनशील बना दिया है और ऐसे वैचारिक घेरे खड़े कर दिए हैं जो केवल हमारे पीड़ित होने के अहसास को ही हवा देते हैं। साझा सरोकारों की तो बात ही छोड़िए, हम एक-दूसरे से बात करना तक भूल चुके हैं। प्रथम दृष्ट्या, बुलडोजर कार्रवाई का सामना कर रहे एक मुस्लिम और राम मंदिर के चंदे में हेरफेर से आक्रोशित एक हिन्दू के बीच कोई समानता नहीं दिखेगी। महाराष्ट्र लोक सेवा आयोग के उम्मीदवार मध्य प्रदेश के आदिवासियों को प्रगति-विरोधी मान सकते हैं; गुजरात के किसान पंजाब के किसानों को राष्ट्र-विरोधी समझ सकते हैं; और कश्मीरियों को लग सकता है कि जो हो रहा है, उसके जिम्मेदार लोग खुद हैं।

आज हमें केवल साझा विचारधारा या निष्क्रिय सहानुभूति की नहीं, बल्कि ‘सहानुभूतिपूर्ण’ संवेदना की राजनीति’ की जरूरत है। सभी हितधारकों की समान भागीदारी के बिना कोई फैसला न लिया जाए- यह सिद्धांत राज्य का दर्जा चाहने वाले कश्मीरी और करोड़ों रुपये के मुआवजे के बावजूद

अपनी जमीन देने से इनकार करने वाली कर्नाटक की महिला किसान, दोनों के दिलों में गुंजेगा। शिकायतें अलग हो सकती हैं; सिद्धांत वही रहता है। आज के विरोध प्रदर्शन काफी हद तक दूसरों की समस्याओं को अपनी समस्याओं से असंबद्ध मानने की ऐतिहासिक भूल का परिणाम हैं।

ऐतिहासिक रूप से जयप्रकाश नारायण (जेपी) का आंदोलन और ‘इंडिया अगेस्ट करप्शन’ (आईएसी) आंदोलन इसलिए अहम थे क्योंकि वे व्यापक और समावेशी आंदोलन थे। हालांकि जेपी आंदोलन ने अनिवार्यतः सत्ता की ज्यादातियों से पीड़ित अलग-अलग लोगों को एक साथ लाने के लिए एक नैतिक शब्दावली (‘संपूर्ण क्रांति’) का सफल इस्तेमाल किया, लेकिन उसकी विफलता यह थी कि उसने शासन चलाने के लिए एक साझा दर्शन तैयार नहीं किया। वह अपने स्वभाव में केवल सत्ता-विरोधी था। आईएसी आंदोलन भी ऐसे समूहों को साथ लाने में सफल रहा जिनमें कोई समानता नहीं थीं, क्योंकि उसने केवल राजनेताओं को जवाबदेह ठहराया, जबकि वास्तविकता यह है कि पूरी शासन व्यवस्था में क्षरण हुआ है और नागरिक भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इसका हिस्सा बन जाते हैं।

आंशिक समाधानों या नीतियों में तदर्थ बदलावों की तलाश करने के बजाय, एक बेहतर भारत का सपना देखने वाले युवाओं को एक साझा नैतिक शब्दावली खोजने की चुनौती से जुड़ना होगा।

देखना होगा कि शिक्षा को बौद्धिक कसरत की जगह आत्मीयता का साधन माने वाले सावित्रीबाई फुले के विचार, आम्बेडकर के गरिमा के विचार, लोहिया के सतर्क नागरिक के विचार, गांधी के स्वराज के विचार, बेराम रसैया के राजनीतिक जागरण के विचार, खान अब्दुल गफ्फार खान के सेवा और अमानतदारी के विचार, राम दयाल मुंडा के प्रकृति व मानव के सह-अस्तित्व के विचार और संविधान के समान नागरिकता के वादे को एक साथ कैसे पिरोया जाए- खासकर तब जब हम इतने संकीर्ण हो गए हैं कि केवल उन्हीं मुद्दों से सरोकार रखते हैं जो हमें सीधे प्रभावित करते हैं?

शायद इसका जवाब सभी नागरिकों की एक अमानत के ‘रक्षक’ या ‘संरक्षक’ के रूप में कल्पना करने में निहित है। कैसी अमानत? दरअसल, यह भारत का वह बहुलवादी विचार है जो हमें विरासत में मिला है- विविध लोग, विविध परंपराएं, विविध धर्म,विविध नदियां, विविध पर्वत, विविध जंगल, विविध मरुस्थल, विविध जीव-जंतु और वनस्पतियां। यह अमानत हमारे संविधान की प्रस्तावना है। ‘संरक्षकता’ हमें अतीत से जोड़ती है, लेकिन भविष्य के प्रति जिम्मेदारी भी जगाती है। यह लोगों के आपसी रिश्तों सहित हर चीज को केवल एक राज्य या सत्ता के चश्मे से नहीं देखती। यह अनुबंधों पर नहीं, बल्कि नैतिक संकल्पों पर; बाजारों पर नहीं, बल्कि घरों पर; वर्तमान ही नहीं भविष्य पर भी ध्यान केन्द्रित करती है। अगर नागरिकता व्यक्ति को अधिकार देती है, तो संरक्षकता केवल हमारे लिए नहीं बल्कि सभी के लिए जिम्मेदारी का भाव भरती है।

अभी भारत का ‘भविष्य’ दिल्ली की सड़कों पर विरोध प्रदर्शन कर रहा है। उसने अपनी आवाज उठाने की कीमत भी जान ली है। भारत किसी सरकार, किसी समुदाय या किसी पार्टी का नहीं है, बल्कि यह एक साझी अमानत है जहां राज्य के जनता से रिश्ते ‘मर्यादा’ यानी नैतिक संयम के आधार पर होने चाहिए। एक अच्छा समाज वह है जिसमें सत्ता का प्रयोग करने वाले सभी घटक- सरकार, कॉर्पोरेट, धार्मिक संस्थान, नौकरशाही और स्वयं नागरिक- ‘मर्यादा’ से बंधे हुए एक अमानत के रक्षक के रूप में काम करते हैं। भगवान राम को ‘मर्यादा पुरुषोत्तम’, यानी सर्वोच्च नैतिक संयम का प्रतीक कहा जाता है। आदर्श शासक स्वयं को सीमित करता है; वह अनिवार्य रूप से सबसे ताकतवर नहीं होता, बल्कि महान नैतिक संयम वाला होता है। जब मर्यादा का उल्लंघन होता है, तो अमानत के रूप में सुरक्षित व्यवस्था खतरे में आ जाती है, और तब उसकी रक्षा जरूरी हो जाती है। ■

अली खान महमूदाबाद इतिहासकार, राजनीति विद्वान, लेखक,कवि और प्राध्यापक हैं

एक ऐतिहासिक विद्रोह और नैतिक केन्द्र की तलाश

अर्णो वैदिक

20 जुलाई को रायसीना हिल के सोए हुए दैत्य की तंत्रा तंत्र भंग हो गई जब अपनी बात सुनी जाने की जिद के साथ हजारों ‘कॉन्ग्रेसो’ ने उसके सीने पर दस्तक दी। दिल्ली का यह असाधारण जनविरोध हांगकांग (2019), श्रीलंका (2022), केन्या व बांग्लादेश (2024) तथा नेपाल, मेडागास्कर और मोरक्को (2025) के जेन-जेड विद्रोह जैसा ही है। ढहती अर्थव्यवस्था का गुस्सा, बेरोजगारी की हताशा, संस्थागत विश्वासघात, प्रशासनिक क्षरण और लाइव-स्ट्रीम होते जनसंहार वगैरह का मूकदर्शक बने रहने की बेबसी- इन सबने मिलकर युवा पीढ़ी में एक गहरा मोहभंग भर दिया है। सोशल और डिजिटल मीडिया ईसानी इतिहास में अभूतपूर्व गति से इनके खिलाफ आक्रोश को लामबंद कर रहा है। ऐसे में, युवाओं के इस उफ़ान को देखना मानवीय जिर्जीविषा और प्रतिरोध के जीवंत प्रमाण के रूप में हिम्मत देने वाला है।

हालांकि कुछ विश्लेषक जंतर-मंतर पर आंदोलन की शुरुआत करने वाले सीजेपी को बिना किसी वैचारिक आधार वाले ऐसे नौसिखियों का बिखरा हुआ समूह मानते हैं, जो अभी अपना रास्ता तलाश रहे हैं, जबकि कुछ लोग उनकी शुरुआती रणनीतियों को स्वार्थी भी मानते हैं; लेकिन इसमें शक नहीं कि उस दिन लामबंदी की अपार ऊर्जा दंग कर देने वाली थी। वहां मौजूद जनसमूह की विविधता भी अद्भुत थी- स्कूल-कॉलेज के छात्र, पेशेवर, बेरोजगार, अल्प-रोजगार से जूझते युवा, माता-पिता, शिक्षक, कलाकार, सोशल ऐक्टिविस्ट, डिजिटल मीडिया के प्रभावक, तमाम हस्तियां और राजनीतिक नेता-सब वहां मौजूद थे। बड़ी तादाद में लोग केवल उन निडर युवाओं के साथ अपनी आत्मीय एकजुटता जताने वहां पहुंचे

थे जिन्होंने एक अहंकारी सत्ता को चुनौती देने की हिम्मत दिखाई थी। इस विविध भीड़ में वामपंथी, दक्षिणपंथी और मध्यमार्गी रुझान के लोग शामिल थे; इसमें मोहभंग का शिकार हुए भाजपा समर्थक भी थे और पूर्वोग्रहों से ग्रस्त लोग भी, जबकि आम्बेडकरवादी, उदारवादी और वामपंथी छात्र संगठनों (आइसा, एसएफआई, एआईएसएफ) से जुड़े छात्रों की भी अच्छी-खासी मौजूदगी थी।

अपनी आस्था-निष्ठा, दलीय संबद्धताओं या राजनीतिक विचारधाराओं से इतर, इन सबके बीच एक साझा जीवन-अनुभव और एक जैसी मनोदशा है। ब्रिटिश श्रम-अर्थशास्त्री गार्ड स्टैंडिंग की भाषा में कहें तो ये सभी ‘प्रिकेरियट’ हैं, यानी समाज का एक ऐसा उभरता हुआ सामाजिक वर्ग जो अत्यधिक आर्थिक असुरक्षा, अनिश्चित रोजगार और बिना किसी सामाजिक सुरक्षा या

लाभ के जीवन बिता रहा है। यह समाज का एक नया वर्ग है जो बेरोजगारी, सामाजिक अस्थिरता, अपनी जीवन शैली को बनाए रखने और भविष्य की सुरक्षा को लेकर एक निरंतर और गहरे संशय में जी रहा है। हालांकि उनके जीवन की भौतिक परिस्थितियां उन्हें वामपंथी विचारों (सामाजिक समता, संसाधनों के पुनर्वितरण और सामूहिक उत्तरदायित्व) की ओर झुका सकती हैं, लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता। अपनी परिस्थितियों से उपजा यह अलगाव उन्हें आसानी से लोकतुभावन और अति-दक्षिणपंथीवादों का शिकार भी बना सकता है, जो एक सुरक्षित भविष्य, मनमर्जी की जिंदगी और सामाजिक बेहतरी का मनोवैज्ञानिक अफीम जैसा भ्रम बेचते हैं। इसलिए यह वर्ग दोनों दिशाओं में मुड़ सकता है, जो इस आंदोलन की वैचारिक तटस्थता को दिखाता है।

इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मौजूद हैं जहां बिना किसी एक केन्द्रीय वैचारिक धुरी के भी विशाल और सफल छात्र आंदोलन खड़े हुए। इसका बेहतरीन उदाहरण 1968 का वह छात्र उफ़ान था जिसने पूरे यूरोप और उत्तरी अमेरिका को हिलाकर रख दिया था। इसकी शुरुआत फ्रांस के पेरिस विश्वविद्यालय के नॉर्तेर कैम्पस से शिक्षा सुधारों की मांग के साथ हुई थी। जल्द ही यह सोरबोन विश्वविद्यालय तक पहुंच गया और उसके बाद पेरिस की सड़कों तक। पुलिस की प्रतिक्रिया हमेशा की तरह दमनकारी रही- लाठीचार्ज, ऑसू गैस और गिरफ्तारियां। इसके बाद तो यह आंदोलन पूरे देश में दावानल की तरह फैल गया। इसमें श्रमिक भारी संख्या में शामिल हो गए- काम ठप कर दिया गया, कारखानों पर कब्जा कर लिया गया और सड़कें बंद कर दी गईं। आंदोलन ने सरकार को पंगु बना दिया और उसे बातचीत की मेज पर आने को मजबूर होना

विरोध का रोमांच बेशक बहुत जोश

दिलाने वाला होता है, लेकिन

अभी जरूरत इस बात की है कि

आंदोलन की नैतिक अनिवार्यता

पर सवाल उठाए जाएं



जिन्होंने बेरहम पुलिस फोर्स और घमंटी सरकार का सामना करने की हिम्मत की

पड़ा। इसकी वजह से हुए बदलाव धीमे और चरणबद्ध, लेकिन दूरगामी थे। पेरिस के छात्रों के इस विद्रोह ने बर्लिन, प्राग, वारसा, न्यूयॉर्क और मैक्सिको सिटी तक को झकझोर दिया। उस दौर में टेलीविजन जनसंचार साधन था जिसने इस खबर को तेजी से प्रसारित कर प्रदर्शनों को गति दी। दुनिया के एक छोर पर अपने ही जैसे युवाओं को संघर्ष करते देख तमाम देशों के छात्रों का हौसला बढ़ा और इससे राजनीतिक रणनीति, विचारों तथा अपनी बात रखने के अंदाज का एक सहज आदान-प्रदान संभव हुआ।

गौर करने वाली बात यह है कि 1968 के इन छात्र आंदोलनों के पीछे कोई एक वैचारिक आधार नहीं था। उन्होंने उत्तर-औद्योगिक पूंजीवाद और सोवियत शैली के साम्यवाद दोनों को खारिज कर दिया था। इन आंदोलनों ने सिद्ध किया कि प्रदर्शनों का नेतृत्व हमेशा कोई ट्रेड यूनियन या स्थापित वैचारिक रुख वाली औपचारिक राजनीतिक पार्टी ही करे, ऐसा कतई जरूरी नहीं। इन प्रदर्शनों को ‘सर्वहारा वर्ग’ के तात्कालिक उफ़ान के रूप

में देखा जा सकता है, जो सत्ता तंत्र तक पहुंच न होने के कारण सड़क पर फट पड़ता है। 2010 की ‘अरब क्रांति’ और 2011 का ‘ऑक्यूपाई वॉल स्ट्रीट’ आंदोलन भी बिना किसी शीर्ष नेतृत्व के उभरे सामाजिक जुड़ाव के उदाहरण हैं- एक ऐसा विकेन्द्रीकृत जमावड़ा जो बिना किसी केन्द्रीय कमान के, डिजिटल नेटवर्किंग के जरिये अद्वार लेता है। इन सबमें लोग विचारधारा के बजाय सर्वसम्मति आधारित राजनीतिक एजेंडे से जुड़े। सभी में संस्थाओं, सत्तासीन लोगों और दशकों से कबिज सत्ता-संरचना से जवाबदेही की मांग की गई थी।

हालांकि, व्यापक जनसमर्थन के बावजूद ये आंदोलन अल्पकालिक साबित हुए। उन्होंने अहम कामयाबी हासिल की, लेकिन रास्ते में ही अपनी रफ्तार खो बैठे। मौजूदा आंदोलन के सामने भी यही खतरा मंडरा रहा है। तो फिर ऐसा क्या हो जो इसकी निरंतरता और गति को बनाए रखे? समर्थन का आधार भी अब खिसकने लगा है। जो लोग इस विरोध में शामिल हुए हैं, वे

सीजेपी की शुरुआती मांगों को एक व्यापक सत्ता-विरोधी लहर में तब्दील कर रहे हैं। इसे देखते हुए पूरे भारत से और अधिक लोग आंदोलन से जुड़ रहे हैं। लेकिन इस ज्वार की ऊर्जा को बनाए रखने के लिए क्या चंद समस्याओं के हल ढूंढना और उनके लिए जिम्मेदार किसी एक व्यक्ति पर कार्यवाई (जैसे इस्तीफा मांगना) ही काफी है? क्या केवल शैक्षणिक सुधार ज्ञान की दुनिया में न्याय की स्थापना कर पाएंगे और अल्पसंख्यकों के लिए बराबर अवसरों के दरवाजे खोल पाएंगे?

खेल सत्ता रूपी दैत्य को हराना बेहद अहम है, लेकिन क्या यह जातिगत असमानता से भरे समाज को सुधार पाएगा? क्या यह बहुसंख्यकवाद की ज्यादातियों को मिटा पाएगा? प्रतिरोध का आकर्षण निरसंदेह मादक होता है, लेकिन वक्त का तकाजा है कि आंदोलन के मूल नैतिक सरोकारों को नए सिरे से परखा जाए। ■

अर्णो वैदिक इतिहासकार, लेखिका और शिक्षिका हैं





जंतर-मंतर अनदेखे चेहरे इस तरह बढ़ा रहे एक दूसरे की तरफ हाथ



फोटो: किंवा

20 जुलाई को दिल्ली में पुलिस की बर्बरता के दौरान प्रदर्शनकारियों के जो जूते-चप्पल छूट गए थे, उन्हें इस तरह याद के तौर पर संजोया गया है; (दाएं) जंतर-मंतर पर भूखे प्रदर्शनकारियों के लिए बादाम का रगड़ा बनाते निहंगों का एक समूह

नंदलाल शर्मा

एकजुटता किसी भी बड़े जन-आंदोलन की जान होती है। विविधता भरे रंग जुड़ जाएं, तो यह जीवंत हो उठता है। पेपरलीक मुद्दे पर केन्द्र सरकार से जवाबदेही मांगने 20 जुलाई 2026 को जंतर-मंतर की जुटान ने साफ कर दिया कि ‘देश का युवा नाराज है और निडर भी’। दिल्ली पुलिस को आंदोलन शुरू में ही कुचल देने का आदेश था, सो लाठियां बरसीं, आंसू गैस के गोले छोड़े गए, लेकिन प्रदर्शनकारी डटे रहे।

पुलिसिया ज़्यादतियों से इरादे और मजबूत हुए; बड़ी संख्या में पहुंचने का तांता लग गया, युवाओं की लंबी-लंबी लाइनें दिखने लगीं, और वहां पहुंचकर डटे रहने की ऐसी होड़ मची कि खराब मौसम, जाम इंटरनेट और बंद मेट्रो स्टेशन जैसी मुश्किलें भी उन्हें रोक नहीं पाईं। बंदिशों ने इरादों को और मजबूती दे दी।

विरोध का दायरा परस्पर देखरेख और भाईचारे में तब्दील होने लगा। पुरानी दिल्ली के मोहम्मद अहमद सैफ़ी को नींद नहीं आ रही थी, तो वह सड़क किनारे आराम कर रहे उन लोगों की देखभाल करने लगे जो भीषण गर्मी से बेहाल थे। एक वीडियो वायरल हुआ जिसमें वह एक मां की तरह बड़े प्यार से लोगों को पंखा झल रहे हैं। जंतर-मंतर पर ऐसे नज़ारे जल्द ही आम हो गए। देखा-देखी लोगों ने कार्ड-बोर्ड और प्ले-कार्ड को ही पंखा बना लिया।

दूसरों की चिंता का यह स्वाभाविक भाव उस नफ़रती राजनीति के खिलाफ भी एक विरोध है, जिसने 2014 से दोस्तों के बीच दूरियां पैदा करने का काम किया, पारिवारिक रिश्तों में खटास भरी और मोहल्लों को सांप्रदायिक आधार पर बांटा है।

पुलिस लाठीचार्ज के बाद बिखरे पड़े जूते-चपलों को जेएनयू के शोधछात्र और एनएसयूआई

उत्तर प्रदेश के पूर्व अध्यक्ष अखिलेश यादव ने एक तरह के ‘साइट-स्पेसिफिक इंस्टॉलेशन’ (खास जगह पर निर्मित कलाकृति) के तौर पर इकट्ठा किया है। यादव कहते हैं, “हम चाहते हैं कि मोदी और अमित- शाह दोनों इस्तीफा दें। ये जूते हमारे संघर्ष का प्रतीक हैं।”

*

20 जुलाई की भारी भीड़ में तमाम युवा महिलाएं दिखीं, जो न सिर्फ़ दिल्ली के अलग-अलग हिस्सों, शिमला, चंडीगढ़, गुरुग्राम से भी जंतर-मंतर पहुंची थीं, और ग़ज़ब के संयम के साथ अपना गुस्सा ज़ाहिर कर रही थीं। वे कैमरे पर आने को भले तैयार नहीं थीं, उनकी मौजूदगी ही प्रतिरोध की इस जुटान को गरिमा और गंभीरता प्रदान कर रही थी।

छह महीने की गर्भवती और लॉ की छात्रा अंजलि वाजपेयी पति के साथ मौजूद थीं। बोलीं, “मेरे पिता भाजपा समर्थक हैं, और वे भी मानते हैं कि जवाबदेही मोदी के बस की बात नहीं है। अगर वे राम मंदिर को लेकर भ्रष्टाचार कर सकते हैं, तो छात्रों या आम नागरिकों की क्या ही परवाह करेंगे?”

पुलिस ने 18 जुलाई को सोनम वांग्चुक को विरोध स्थल से क्या हटया, वहां पहुंचने वालों का तांता ही लग गया। देखते-देखते हज़ारों और लोग वहां पहुंच गए। खड़े होने की जगह नहीं, और गर्मी चरम पर थी। शिमला की तविशा समझदारी दिखाते हुए पानी की बोतलों का एक बड़ा क्रेट अपने साथ लाई थीं। बोलीं, “संभव है, लोग देर से जगे हों, लेकिन वे जाग तो गए हैं। अगर शिक्षा व्यवस्था में सुधार नहीं हुआ, तो छात्र चुपचाप नहीं बैठेंगे और न यूं ही वापस चले जाएंगे।”

प्रयागराज के दसवीं कक्षा के छात्र राज जंतर-मंतर

पहुंचने की जल्दी में एक हफ्ते पहले ही घर से भाग लिए थे। बोले- “मैंने अपने परिवार को नहीं बताया! वे मुझे आने ही न देते।” सिर्फ़ एक जोड़ी कपड़े साथ लेकर आए राज प्रदर्शनकारियों को खाना-पानी बांटने में जुटे दिखे और जो कुछ भी मिला, उसी पर गुज़ारा किया। लोगों में विरोध-प्रदर्शन का हिस्सा बनने की इच्छा जागृत हुई, तो छोटे-मोटे तरीके से मदद करके ही सही, वहां ज़रूरी सामान की आवग भी शुरू हो गई।

जंतर-मंतर लेन के निकट ‘राम लड्डू’ बेचने वाले संदीप ने भागीदारी के नाम पर अपना सारा स्टॉक महज

500 रुपये में असद अहमद और उनके साथियों को दे दिया, ताकि छात्रों में बांट सकें। संभल के एक युवक ने पुरानी दिल्ली से थोक में गोलगप्पे खरीदकर बांट दिए। इंडियन एक्सप्रेस के रिपोर्टर के पृछने पर उसने नाम बताने से इनकार कर दिया और कहा: “मैं यहां शोहरत के लिए नहीं आया हूं।”

जो खुद नहीं आ पाए, उन्होंने ज़ोमैटो और स्विगी के जरिये खाना भेजा। मुंबई के अनुज रावत ने डिलीवरी पार्टनर से कहा: “वहां जो भी भूखा हो, उसे खाना दे देना।” डिलीवरी का पता बस ‘जंतर-मंतर’ लिखा था। इतना ज़्यादा खाना आ गया कि आखिर में आयोजकों को लोगों से और न भेजने की अपील करनी पड़ी।

दृष्टिबाधित कई युवाओं की भी सक्रिय भागीदारी दिखी। निकिता, दानिश, आशु और आर्या जैसे अनगिनत युवा स्वयंसेवक भी दिखे जो मुफ्त में खाना बांट रहे थे: ‘विदेशी फंडिंग’ का ताना मारने वालों के लिए यह एकदम माकूल जवाब था।

सेवा भावना तो शुरुआत से ही मौजूद है, लोग बढ़ते गए, तो यह भावना भी मजबूत होती गई। 21 जुलाई से जंतर-मंतर के आस-पास के गुरुद्वारों, सिख संगठनों और कांग्रेस सेवादल ने खुलकर योगदान देना शुरू किया। बिना किसी दिखावे या कैमरे के सामने आए बिना, हर शाम बड़ी खामोशी से आकर उस जगह की सफ़ाई करने वाले भी हैं। बस एक व्यक्ति के कचरा उठाना शुरू करते ही अपने आप कई टीमें बन जाती हैं, और कचरा इकट्ठा करके तय जगहों पर डाल देती हैं। किसी को भी यह उसकी शान के खिलाफ नहीं लगता। सब बराबर के साझीदार हैं।

ऑनलाइन लाखों लोगों तक पहुंचे पोस्टरों-बैनरों ने सबका ध्यान खींचा। जंतर-मंतर पर मौजूद लगभग हर युवा के हाथ में हाथ से बना पोस्टर हैं, जिन पर धर्मेंद्र

पहले दिन से ही दिखने वाली देखभाल

की भावना, तब और बढ़ती गई जब

गुरुद्वारों और अन्य जगहों ने अपने

दरवाजे खोल दिए। जो खुद नहीं आ

पाए, उन्होंने ज़ोमैटो और स्विगी के

जरिये खाना भेजा

पटकथा लेखकों के सिवा किसी को संवाद में रकतीन नहीं

चंद्रिल भट्टाचार्य

लोकतंत्र और संवाद पारिभाषिक तौर पर भले ही परस्पर जुड़े हैं, लेकिन इरादे की बात आती है तो वे अलग-अलग राह ले लेते हैं। सत्ताधारी दल शुरू में असहमति नज़रअंदाज करता है, मानो इस सबसे बेहतरीन शासन-व्यवस्था में असहमति का कोई वजुद ही नहीं, न ही होना चाहिए। फिर, जैसे-जैसे असहमति जताने वालों की संख्या बढ़ती है, मार्च बड़े होते जाते हैं, प्रदर्शनकारियों की आवाज़ और बुलंद होती है, और जब किसी आंदोलन को देश भर से मिल रहे समर्थन को नज़रअंदाज करना नामुमकिन हो जाता है, तो सत्ता को एक ‘युरेका-मोमेंट’ वाला सदाबहार आइडिया आता है: “चलो, इन्हें बुरी तरह पीटा जाए!” और फिर, पुलिस को भरपूर मात्रा में आंसू गैस और वॉटर कैनन दे दिए जाते हैं, और सड़कों पर और स्क्रीन पर, एकतरफ़ा लाठी-चार्ज वाली लड़ाई शुरू हो जाती है।

जब सरकार द्वारा अपने ही लोगों पर जुल्म ढाने के दृश्य मोबाइल स्क्रीन और मीडिया पर फैल जाते हैं, जिसे सरकार दबा नहीं पाती, और जब शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों के लहूलुहान सिर और ज़ख्मी शरीर देख पूरा देश दहशत में आने लगता है, तब सत्ता के बड़े नेताओं को लगता है: “अरे, यह तो भविष्य के लिए, वोटों के लिए ठीक नहीं हुआ!” और तब उन्हें लोगों से संवाद, यानी शिकायतों और नीतियों पर शराफ़त से चर्चा करने का ख़याल आता है। एक सभ्य समाज में जो कदम सबसे पहले उठाया जाना चाहिए था, सबसे आखिर में उठाया जाता है, और वह भी तब, जब उन्हें कोई और रास्ता नहीं सूझता।

हममें से ज़्यादातर लोगों की लोकतंत्र को लेकर समझ स्पष्ट नहीं है। देश की सत्ताधारी

पार्टियों को लगता है कि लोकतंत्र बस वोट से तय होने वाली तानाशाही है। वे खुद को राजा समझते हैं, और सर्व-शक्तिमान। राजा का काम हुकम देना, दबदबा बनाकर रखना और आदेश देना होता है, वह भला किसी की क्यों सुनने लगा? और जो पार्टी लंबे समय तक सत्ता में रह जाए, समझने लगती है कि उसे तो ताजिंदगी तानाशाही का लाइसेंस ही मिल गया है; कि उसे अब न किसी की सुनने, न विचार करने, न कुछ सीखने और न ही किसी आत्म-मंथन की ज़रूरत है। वह पार्टी बेहिसाब अहंकार, बाहुबल, आईटी-सेल के बनाए मीम्स और कभी न खत्म होने वाले बुलडोज़रों के दम पर चलने लगती है।

और जब सामना ज़रूरी सवालों के जवाब मांग रहे युवा, ईमानदार और निडर चेहरों से हो जाए, तब क्या होता है? यह मेगाफ़ोन पर चिल्लाना शुरू कर देता है कि पूरा आंदोलन किसी दूसरे देश या अन्य ग्रह से प्रायोजित है। वह राग अलापना शुरू कर देता है कि सरकार ही देश है, और सरकार के खिलाफ़ आवाज़ उठाने वाला हर कोई देश-विरोधी। लेकिन जैन-जी तेज-तरार, अपनी बात साफ़-साफ़ कहने वाला, सोच-समझकर काम करने वाला और सजग है। वह सन्न और तर्क के साथ अपनी बात रखता है। धीरे-धीरे ही सही, लोग अब तक प्रोपेगैंडा और आम समझ के बीच फ़र्क़ करने लगते हैं।

क्योंकि पेपर लीक की वजह से आत्महत्या को मजबूर हुए छात्रों के प्रति सरकार की बेरुखी किसी से छिपी नहीं है।

नेपाल में जेनरेशन-जेड ने सरकार गिरा दी। यूक्रेन में हुए सड़क प्रदर्शनों ने ज़ेलेंस्की को अपने शीर्ष जनरल सिरस्की की बर्खास्तगी पर मजबूर कर दिया। क्या हमारे भारतीय कॉंकरोच, जिन्हें आम लोगों की सहायुभूति और खाने-पीने की चीजों, दवाइयों के रूप में अपार सहयोग का पोषण मिला है- यह लड़ाई जीत पाएंगे? क्या सरकार समझेगी कि लोकतंत्र में असहमति की आवाज़ सुनना एहसान नहीं, एक ज़िम्मेदारी है? क्या यह विरोध इस सरकार के खिलाफ़,

उसके सांप्रदायिक बयानों और महज शक के आधार पर असहमति रखने वालों को जेल में सड़ने के लिए छोड़ देने की आदत के खिलाफ़- औरों को भी आवाज़ उठाने के लिए आगे आकर विरोध प्रदर्शन को प्रेरित करेगा? हम नहीं जानते और फ़िलहाल कुछ कह भी नहीं सकते!

भारत में अक्सर चीज़ें समय के साथ ठंडी पड़ जाती हैं। किसी आंदोलन का नेतृत्व और समर्थन अगर कोई राजनीतिक नहीं, बल्कि आम लोग करते हों, तो उसमें कितना भी जोश और ज़ोर-शोर हो, किसी तरह के असाधारण नतीजे की संभावना कम ही होती है। समय किसी का इंतज़ार नहीं

करता। लेकिन सत्ता में बैठे लोगों के लिए समय की रफ़्तार भी धीमी की जा सकती है। सत्ता में बैठे लोग किसी फ़ैसले पर महीनों बैठे रह सकते हैं, लेकिन आम लोग महीनों तक लगातार विरोध-प्रदर्शन नहीं कर सकते। उन्हें कॉलेज जाना होता है, दफ़्तर जाना होता है, घर चलाना होता है, परिवार का पेट पालना होता है। शुरुआत में जो जोश और तेज़ी होती है, लंबे समय में कमज़ोर पड़ने लगती है, और सरकारें इसी मौके का फ़ावदा उठाती हैं। लेकिन वे अक्सर उन बीजों को नज़रअंदाज कर देते हैं जो बिखरते हैं और निश्चित तौर पर खिलते भी हैं। पश्चिम बंगाल में आर.जी. कर अस्पताल में एक महिला डॉक्टर के रेप और हत्या के खिलाफ़ आंदोलन जंगल की आग की तरह फैला, लेकिन कुछ महीनों बाद उसकी रफ़्तार धीमी पड़ गई। सरकार को लगा, मामला खत्म हो गया है, लेकिन दो साल बाद चुनाव नतीजों में लोगों का गुस्सा फ़ूटकर सामने आया। लोग विरोध प्रदर्शन भले छोड़ दें, उनका गुस्सा और दर्द मन में बना रहता है।

हर आंदोलन की अपनी एक दिखने वाली छाप होती है, जो इस डिजिटल युग में लाखों फ़ोटो, कमेंट, शेयर, लाइक और रील्स के जरिये सामने आती है। ये चीज़ें बाद में शासकों के लिए मुसीबत बनकर लौटती हैं। इसी तरह, हर आंदोलन की अपनी एक अमूर्त छाप भी होती है, जो सत्ता का उदासीन रवैया और अलोकतांत्रिक सोच को बेनकाब करती है और ऐसे सवालों का सिलसिला शुरू करती है जिन्हें रोका नहीं जा सकता।

सवालों के जवाब अक्सर हवा में तैरते रहते हैं और उन्हें पकड़ना मुश्किल नहीं होता! ■

चंद्रिल भट्टाचार्य कोलकाता के गीतकार, कवि, निबंधकार और फिल्म निर्माता हैं



फोटो: इंदिरा

सत्ताधारी पार्टियां अक्सर यह भूल

जाती हैं कि भले ही लोग लगاتार

नज़र रखना छोड़ दें, लेकिन वे

अपना गुस्सा और दर्द मन में बनाए

रखते हैं और वक्त आने पर अपना

क्षोभ निकालते हैं



बदलाव की मांग गूंज रही दूर-दूर तक

हरजिंदर

सोमवार, 20 जुलाई को देश की राजधानी एक ऐसे छात्र विद्रोह का केन्द्र बन गई, जिसकी गूंज पूरे देश में ही नहीं, बल्कि न्यूयॉर्क, सैन जोस और लंदन जैसे उन शहरों तक सुनाई दी, जहां भारतीय प्रवासी बड़ी संख्या में रहते हैं। उस दिन दिल्ली में पुलिस का अभूतपूर्व बंदोबस्त था। मध्य दिल्ली की ओर आने-जाने वाली कई प्रमुख सड़कों पर बैरिकेड लगाकर यातायात रोक दिया गया था। शाम करीब चार बजे जब शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों की विशाल भीड़ आखिरकार जंतर-मंतर पर पुलिस की घेराबंदी तोड़ते हुए संसद मार्ग की ओर बढ़ने लगी, बैरिकेड, निषेधाज्ञा कुछ भी उन्हें नहीं रोक सके, तो पुलिस ने लाठीचार्ज, वाटर कैनन, आंसू गैस, पेलेट गन और अन्य बलप्रयोग से प्रदर्शनकारियों पर कहर बरपा दिया।

दिल्ली की घटनाओं ने भले ही देशभर में चल रहे विरोध प्रदर्शनों की आवाज को कुछ देर के लिए दबा दिया हो, लेकिन यह आंदोलन सोमवार को दिल्ली में चरम पर पहुंचने से पहले ही देश के अलग-अलग हिस्सों में आकार ले चुका था। रविवार, 19 जुलाई की सुबह, जब सोनम वांगचुक को जंतर-मंतर से जबरन हटाया गया था, उसके अगले ही दिन मुंबई के शिवाजी पार्क में सैकड़ों लोग उनके समर्थन में जुटे। महाराष्ट्र के पूर्व मुख्यमंत्री उद्धव ठाकरे भी इसमें शामिल हुए। बेंगलुरु के फ्रीडम पार्क में छात्रों और युवा पेशेवरों की बड़ी भीड़ उमड़ी। उनका संदेश केवल एक परीक्षा (नीट) या एक मंत्री (धर्मेंद्र प्रधान) तक सीमित नहीं था। पोस्टग्रेजुएट छात्रा अपूर्वा आर. ने कहा, 'अगर आज छात्र चुप रहे, तो कल हर संस्था अपनी विश्वसनीयता खो देगी।'

कोलकाता में जाधवपुर विश्वविद्यालय ने पश्चिम बंगाल में सत्ता परिवर्तन के बाद अपना पहला बड़ा छात्र मार्च निकाला। छात्रों, शिक्षकों और शोधार्थियों ने एक साथ मार्च करते हुए शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर पुलिस की कार्रवाई की निंदा की। प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालय के छात्रों ने भी धर्मेंद्र प्रधान के इस्तीफे की मांग का समर्थन किया, जबकि मेडिकल कॉलेज कोलकाता के करीब पचास छात्रों ने उस समय वांगचुक के अनशन के इक्कीसवें दिन उनके समर्थन में बारह घंटे का उपवास रखा।

इन महानगरों से आगे भी असंतोष की वही तपिश महसूस की गई। भुवनेश्वर में शिक्षा मंत्री के आवास के बाहर एनएसयूआई के घेराव में, लेह और कारगिल की प्रार्थना सभाओं में, पूर्णिया, सीकर, जयपुर और



भाजपा-शासित महाराष्ट्र में भी पुलिस प्रदर्शनकारियों के प्रति कम असहिष्णु नहीं थी। 20 जुलाई को मुंबई का एक दृश्य

रांची की मशाल रैलियों में, लखनऊ, चंडीगढ़, इंदौर, सिरसा, जौनपुर, अलीगढ़, भिवानी और यमुनानगर के प्रदर्शनों में यही आक्रोश दिखाई दिया। यहां तक कि मणिपुर जैसे राज्य में, जो पहले से ही भीषण जातीय संघर्ष से जूझ रहा है, छात्रों और आम नागरिकों ने भी दिल्ली के प्रदर्शनकारियों से एकजुटता दिखाई।

सबसे दिलचस्प तस्वीर हिमाचल प्रदेश से सामने आई। शिमला में छात्र मूसलाधार बारिश के बीच कई किलोमीटर पैदल मार्च करते रहे। इसी दौरान हमीरपुर, नादौन और बरसर जैसे उन कस्बों में भी प्रदर्शन हुए, जो सामान्यतः राष्ट्रीय सुखियों का हिस्सा नहीं बनते।

यह आंदोलन अब राष्ट्रीय राजधानी और राज्य मुख्यालयों की सीमाएं पार कर छोटे शहरों और जिलों

अपने ही देश में बेगाने

केन-बेतवा लिंक परियोजना के खिलाफ उठ रही आवाजों पर पुलिसिया दमन ने बुंदेलखंड के ग्रामीणों को पूरी तरह बेबस बना दिया है

रश्मि सहगल

दुनिया के किसी भी दूसरे मुल्क में ऐसा हुआ होता, तो वहां के हुक्मरान शर्म से पानी-पानी हो गए होते। केन की सहायक नदी बराना के घाटों पर बदहाल ग्रामीणों को अपनी ही मौत का स्वांग रचते देखना रोंगटे खड़े कर देता है। लड़कियां और महिलाएं लकड़ी की चिताओं पर लेटी हैं। पुरुषों और महिलाओं के चेहरों पर राख पुती है, हाथ लकड़ी के क्रॉस से बंधे हैं। गर्दन में फांसी का फंदा डाले नदी के पानी में खड़े नौजवान हाथों में तख्तियां लिए हैं, जिन पर लिखा है- 'न्याय दो या मृत्यु'।

यह सब उस दंश की दास्तान बयां करने के लिए है, जो 45,000 करोड़ रुपये की केन-बेतवा लिंक परियोजना के तहत बनने वाले दौढ़न बांध के कारण अपने घर-बार खोने से उपजा है। यह परियोजना बिहार, कर्नाटक से लेकर केरला और सिक्किम तक प्रस्तावित 37 नदी-जोड़ो परियोजनाओं की श्रृंखला की पहली कड़ी है। प्रदर्शनकारियों में शामिल 23 साल के राजकुमार ने इस पूरे दर्द को एक वाक्य में समेट दिया: 'हमने सिर्फ अपनी जमीन, अपनी आजीविका और अपने जंगल ही नहीं खोए हैं, बल्कि अपनी सांस्कृतिक पहचान भी गंवा दी है। हम अपने ही देश में बेगाने और बेसहारा होकर रह गए हैं।'

बुंदेलखंड के 'सोनम वांगचुक' कहे जाने वाले सोशल ऐक्टिविस्ट अमित भटनागर पिछले चार साल से यहां आंदोलनों की अगुवाई कर रहे हैं। 5 जुलाई 2026 से वह कुपी गांव के पास अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठे थे। 19 जुलाई की सुबह लगभग 5 बजे, पुलिस ने आंदोलन को कुचलने के लिए धावा बोल दिया। भटनागर को मध्य प्रदेश के छतरपुर जिला अस्पताल ले जाया गया। घटते ब्लड प्रेशर के बावजूद उन्होंने अपना अनशन जारी रखा और फिलहाल वह आईसीयू में हैं। उन्हें 23 जुलाई को अस्पताल से डिस्चार्ज किया जाना था और आगे के आंदोलन की रणनीति तय करने के लिए पास के कसबे बिजावर ले जाकर अन्य कार्यकर्ताओं और ग्रामीणों से मिलਾया जाना था। लेकिन उनकी बिगड़ती हालत को देखते हुए अस्पताल प्रशासन ने इसकी इजाजत नहीं दी।

जबरदस्ती उठाए जाने से पहले भटनागर ने स्थानीय मीडिया से कहा था: 'मैं भूख हड़ताल खत्म नहीं करूंगा, चाहे मेरी जान ही क्यों न चली जाए। अगर डॉक्टरों ने मुझे जबरदस्ती खाना खिलाने की कोशिश की, तो मैं पानी पीना और सांस लेना भी छोड़ दूंगा।'

हालांकि 300 से ज्यादा ऐक्टिविस्ट्स और जागरूक नागरिकों ने एक पत्र भेजकर अमित भटनागर से अनशन तोड़ने की अपील की है, लेकिन स्थानीय

प्रशासन के कानों पर जूं तक नहीं रेंग रही। पिछले तीन महीनों में उनपर 42 मुकदमे दर्ज किए गए हैं और इस आंदोलन के दौरान उन्हें कई बार जेल में डाला जा चुका है।

कानून की पढ़ाई कर रही उनकी सहकर्मी और ऐक्टिविस्ट दिव्या अहिरवार ने सत्ता के रुख पर सवाल उठाते हुए कहा: 'अगर अपने अधिकारों, लोकतंत्र और संविधान की बात करना अपराध है, तो सिर्फ अमित भटनागर ही नहीं, बल्कि हर युवा और हर प्रभावित इंसान यह अपराध बार-बार करेगा।'

भूख हड़ताल पर बैठने से ठीक पहले एक साक्षात्कार में भटनागर ने सरकार की कार्यप्रणाली पर गंभीर सवाल उठाए थे। सरकार ने प्रभावित समुदायों की सहमति लेने के लिए एक बार भी ग्राम सभा की बैठक बुलाने की जहमत नहीं उठाई। भटनागर ने कहा: 'आदिवासी क्षेत्र संविधान की छठी अनुसूची में आते हैं, जहां आदिवासियों की जमीन के हस्तांतरण के लिए ग्रामसभा की मंजूरी जरूरी है। यहां कोई सहमति नहीं ली गई; उल्टा कागजों पर फर्जी दस्तखत बना लिए गए। इससे भी बदतर यह है कि पर्यावरण प्रभाव आकलन (EIA) की रिपोर्ट या 45 लाख पेड़ों की कटाई से होने वाले तबाही के नतीजों को सार्वजनिक ही नहीं किया गया। बुंदेलखंड के दो शहर बांदा और खजुराहो भारत के सबसे गर्म शहरों में गिने जाते हैं। पन्ना टाइगर रिजर्व बुंदेलखंड के फेफड़े की तरह है।

‘जिस नदी में साल के तीन महीने एक

बूंद पानी नहीं रहता, उस पर बांध बनाने

के लिए हमारे जंगल, हमारी उपजाऊ

जमीनें और हमारे घर छीने जा रहे हैं।’

परियोजना से प्रभावित ज्यादातर लोगों

की यही शिकायत है

फोटो: अहमद खान



मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में केन-बेतवा नदी जोड़ो परियोजना के खिलाफ 'जल, धिता, मिट्टी आंदोलन' को 19 जुलाई को अवानक खत्म कर दिया गया

जब पूरा जंगल डूब जाएगा या काट दिया जाएगा, तब क्या होगा? (दौढ़न बांध न केवल पन्ना टाइगर रिजर्व को दो हिस्सों में बांटेगा, बल्कि देश के सबसे प्राचीन जंगलों में से 5,578 हेक्टेयर हिस्से को भी जलमग्न कर देगा।) तापमान और बढ़ेगा। वैज्ञानिकों ने पहले ही आगाह कर दिया है कि जब ऐसा होगा, तो इलाके में बारिश और 20 फीसद घट जाएगी।'

उन्होंने केन और बेतवा नदियों के जल-प्रवाह का ब्योरा न देने पर भी हैरानी जताई: 'प्रोजेक्ट से जुड़े इंजीनियर खुद मानते हैं कि आखिरी जल अध्ययन 2001 में किया गया था। तब से लेकर अब तक जमीनी हकीकत नाटकीय रूप से बदल चुकी है। केन नदी, बेतवा की तुलना में निचले स्तर पर है, जबकि बेतवा उससे आकार में दोगुनी है। पिछले कुछ वर्षों में केन गर्मियों में पूरी तरह सूख जाती है। ऐसे में वे इतनी विशालकाय परियोजना के लिए पानी लाएंगे कहां से?'

यही वह सवाल है जो अपने घर-बार खो चुके ग्रामीणों के जहन में कौंध रहा है।

बराना नदी के पानी में लगातार पांच दिनों तक खड़े रहने वाले 45 वर्षीय पुरुषोत्तम ने पूछा: 'हमें जबरन बेदखल करने से पहले कोई जन सुनवाई क्यों नहीं की गई? जंगल से हमारा एक आत्मीय और अटूट रिश्ता

तक पहुंच चुका था, जहां प्रतियोगी परीक्षाएं सामाजिक गतिशीलता और बेहतर भविष्य का लगभग एकमात्र रास्ता बन चुकी हैं।

दो शहर विशेष रूप से उल्लेख के पात्र हैं- कोटा और देहरादून।

भारत की कोचिंग राजधानी कोटा में राहुल गांधी के 'छात्रों की गूंज' कार्यक्रम में कहीं अधिक भीड़ उमड़ी। दिल्ली में पुलिस कार्रवाई के बाद सोमवार को छात्र बड़ी संख्या में फिर सड़कों पर उतर आए। वहीं देहरादून में छात्र संगठनों ने लगातार हो रहे प्रश्नपत्र लोक मामलों के लिए जवाबदेही तय करने की मांग की। उनका कहना था कि इन घटनाओं ने देश की शिक्षा व्यवस्था में लोगों का भरोसा पूरी तरह हिला दिया है।

इस क्षण को असाधारण बनाने वाली बात केवल इसका व्यापक फैलाव नहीं, बल्कि इसकी प्रकृति भी है।

आंदोलन किसी एक छात्र संगठन या किसी एक राजनीतिक दल के कार्यक्रम तक सीमित नहीं रहा। देशभर में छात्रों के साथ शिक्षक, अभिभावक, सेवानिवृत्त सरकारी कर्मचारी, किसान संगठन, मजदूर यूनियन और महिला संगठन भी कंधे से कंधा मिलाकर खड़े दिखाई दिए।

इंदौर में 101 वर्षीय स्वतंत्रता सेनानी और पूर्व सांसद पंडित रामकृष्ण शर्मा स्वयं छात्रों की शिक्षा सुधार संबंधी मांगों के समर्थन में प्रदर्शन स्थल तक पहुंचे। वहां लगे पोस्टरों पर उन छात्रों के नाम लिखे थे, जिन्होंने बार-बार होने वाले पेपर लीक या अन्य परीक्षा संबंधी असफलताओं के बाद आत्महत्या कर ली थी। मोमबत्ती मार्च और मौन जुलूसों को देखकर ऐसा लगा मानो गुस्से पर शोक भारी पड़ गया हो।

आंदोलन के इतने व्यापक विस्तार से साफ है कि अब ऐसे जनआंदोलनों को किसी मुख्यालय की जरूरत नहीं रह गई। दिल्ली ने इस आंदोलन को निर्यात नहीं किया। निरसंदेह सोशल मीडिया ने इसे फैलाने और गति देने का काम किया, लेकिन केवल तकनीक किसी समाज में आक्रोश पैदा नहीं कर सकती। डिजिटल मंच सूचना को जंगल की आग की तरह फैला सकते हैं, मगर दूर-दूर बसे लोगों को एकजुट करने का काम साझा अनुभव और साझा पीड़ा ने किया।

दिल्ली में पुलिस और प्रदर्शनकारियों के बीच टकराव का सुखियां बनना स्वाभाविक था, लेकिन देशभर में आकांक्षाओं और चिंताओं का यह शांत संगम भी कम महत्वपूर्ण संकेत नहीं देता। भारत का युवा उस व्यवस्था के खिलाफ खड़ा हो रहा है जिसने उसे निराश किया है। अब केवल योग्यता अवसर की गारंटी नहीं रही, बल्कि योग्यता की पहचान भी मानो लांटी बन गई है। वर्षों की कठिन तैयारी व्यवस्था की विफलताओं के कारण एक झटके में अर्थहीन हो सकती है।

इतिहास बताता है कि छात्र आंदोलन अक्सर लोकतंत्र के लिए शुरुआती चेतावनी का काम करते हैं। आर्थिक आंकड़ों या चुनावी नतीजों से पहले विश्वविद्यालयों और परिसरों में देश के बदलते जनमत को आहट सुनाई देने लगती है।

20 जुलाई का संदेश बेहद स्पष्ट और गहरा है- भारत का युवा इस सरकार को स्पष्ट चेतावनी दे रहा है। उसने बहुत लंबा इंतजार किया है कि उसकी आवाज सुनी जाए। अब वह बदलाव के लिए और इंतजार करने को तैयार नहीं है। ■

संवेदनहीनता ग्रामीणों को कचोटती है। एक युवा ग्रामीण ने तल्लू टिप्पणी की: 'उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ 8 जुलाई को बुंदेलखंड आए थे। उन्होंने घाटों के सौंदर्यीकरण, पर्यटन सुविधाओं और उद्योगों पर 70 करोड़ खर्च करने का वादा किया। लेकिन उन्होंने भीषण गर्मी में पानी की किल्लत, पलायन, बेरोजगारी या यहां फैल रही बीमारियों पर एक लफ्ज तक नहीं कहा।'

ऐक्टिविस्ट प्रिया अहीर का गुस्सा भी उफान पर है: 'दौढ़न बांध छतरपुर में 6,000 और पन्ना जिले में लगभग 1,500 परिवारों को उजाड़ने जा रहा है। जिस नदी में साल के तीन महीने पानी नहीं रहता, उसपर बांध बनाने के लिए हमारी उपजाऊ जमीन, हमारे जंगल और हमारे आशियाने बलि चढ़ाए जा रहे हैं! केन नदी में अवैध बालू खनन ने नदी के तल को तबाह कर दिया है, जलस्तर गिरा दिया है और भयानक कटाव पैदा किया है। लेकिन इसे रोकने के बजाय, खनन का मलबा हमारी कृषि भूमि पर फैलाया जा रहा है। राज्य सरकार आंखें मूंदे बैठी है, उसे सिर्फ और सिर्फ तबाही करनी है।'

जब स्थानीय लोगों के पास पीने के साफ पानी और बिजली तक का इंतजाम नहीं है, तो अपनों की अनदेखी करके 13 अन्य जिलों को पानी और सिंचाई की सुविधा देने के दावों का क्या तुक? सुप्रीम कोर्ट द्वारा गठित केन्द्रीय अधिकार प्राप्त समिति ने 2019 में ही इस परियोजना की व्यावहारिकता पर सवाल उठाते हुए सलाह दी थी कि सरकार को बुंदेलखंड में जल संकट से निपटने के लिए कम लागत वाले विकल्प तलाशने चाहिए। केन-बेतवा प्रोजेक्ट का मामला पहले से ही सुप्रीम कोर्ट में लंबित है। फिर इसे इतनी हड़बड़ी में बढ़ाने की क्या जल्दबाजी? ■



मंदिरों में कैद नहीं हुआ करते राम

हे राम कहकर देह त्यागने वाला कभी किसी मंदिर में राम को ढूंढने नहीं गया



क्षेत्र से आते-जाते थे। केरला के मुंजिरिस समेत अनेक सागर तट से व्यापार-व्यवसाय के कारण जुड़े थे। सिकन्दर चौथी सदी ईसा पूर्व झेलम तट तक आया। वह हिस्सा जो आज पाकिस्तान में है, वहां तक अपना शासन प्रतिनिधि नियुक्त कर गया। ऐसे में साहित्य का आदान-प्रदान नामुमकिन नहीं है। वह बहस का मुद्दा भी नहीं है।

रामायण की रचना के समय मंदिर की स्थापना के कोई प्रमाण नहीं हैं। दिव्य या ईश्वर को आकार देने, उनको मूर्ति मंदिर के रूप में बांधने की शुरुआत भारत में नहीं हुई थी। जब वह लिपिबद्ध हुआ, तब तक जरूर स्थान ने आकार लेना शुरू किया। यह बहुत सम्भव है कि मिस्र फ़ारसी और यवनी प्रभाव से देव गुह बनाया जाना आरम्भ हुआ हो। पहले पहल ध्वज, पताका और स्तम्भ पहली सदी ईसा पूर्व से दूसरी सदी ईस्वी की मानी गई है। वह हेलियोडोरस ने खुद को भागवत कहकर हिन्दू-यवनी राजा एंटीयालसीडस का राजदूत बनकर स्थापित कराया। यह शृंग वंशीय राजा भागभद्र को दी गई भेंट थी। वह आज भी विदिशा में है। इतिहासकार उसे पहला पहल देव ढांचा मानते हैं।

चौथी पांचवी सदी से मंदिर स्थापन का सिलसिला शुरू हुआ। रोमन व्यापार मध्य एशियाई हूण हमले

से प्रभावित हुआ। तो देश के भीतर कृषि का विस्तार करना जरूरी हो गया। इस विस्तार ने सामंती व्यवस्था को स्थापित किया। बहुत से सामंत जन समूहों से थे, जिन्हें जाति के भीतर लाने की कवायद हुई। उन्हें चन्द्र सूर्य वंशीय बताकर सुशोभित करने के लिए पुरोहितों की जरूरत थी। पुरोहितों को बदले में राजकीय आश्रय मिला। तब मंदिर व्यावसायिक केन्द्र के रूप में मशहूर हुए। यहां बाजार लगने लगा। यह कृषि आधारित व्यवस्था के बड़े व्यापारिक केन्द्र बनते चले गए।

इन मंदिरों ने सारी राजकीय परंपरा को अपनाया। सबसे ताकतवर के स्वरूप जिन राजाओं को देखा था, वही प्रस्तुरी देव की होने लगी। उनके हाथ में कभी हथियार होते, कभी समृद्धि, अभय। वे सोने-जागने लगे, श्रृंगार कराने लगे। हर सामंत खुद को देवपुत्र कहे, तो बलाना तो पड़ेगा कि इस पुत्र के अभिभावक कैसे होंगे! दुनिया भर की रियायत यह थी कि हमलावर राजा स्थानीय देवी-देवता को अपनाता और अपने पुराने देव से कोई संबंध बता देता। यूची समूह के कुषाण शासक शिव, बुद्ध आवेस्ताई अहुर के चित्र सिक्कों में उकेरने लगे थे।

ख्याल रहना चाहिए कि बहुजन समाज के ज्यादातर वर्णाधारित समाज, अवर्ण दलित आदिवासी समुदाय को यहां कोई प्रवेश नहीं मिलता था। वे कारीगर जो

मंदिर बनाते, उन्हें गर्भगृह में घुसने की मनाही थी। जो माला पिरोते थे, वे अंदर जाकर खुद नहीं चढ़ा सकते थे। यानी मंदिर वर्चस्ववादी पक्ष का अपना केन्द्र बन गया था। बहुजन और आदिवासी समाज ने अपनी भक्ति के लिए कई नए स्थान बनाए।

खैर ओड़ीसियस से परे रामायण जीवित परंपरा है। राम लीला ने उसे जीवंत रखा है। हर पीढ़ी उसमें कुछ जोड़ती है, कुछ अपनाती है। रामायण इस मायने में ओड़ीसियस से बिल्कुल विलग है। उसके कई संस्करण भारत में मौजूद हैं। हर एक की कहानी में कुछ जुदा है। रामायण आध्यात्मिक भी है। ओड़ीसियस में मृग आदमी में बदल जाता है, पर रामायण में इन चरित्रों के ज़रिये कुछ कहने की कोशिश हुई है। हम चाहें तो समझ सकते हैं।

सीता सीत “हल” से जुड़ा है। कर्मशील समाज जब स्वर्ण मारीच (मरीचिका) के पीछे भागने लगे तो कैद हो जाता है। कैद स्वर्ण की ही क्योx न हो। वह कैद ही होती है। वहां उपभोग हो सकता है, पर उत्पादक कर्मशीलता का दम घुटता है। पुनः संघर्ष करके खुद को सायास छुड़ाना पड़ता है।

चंदा, दान-पेटी और आस्था की चोरी से जूझता मंदिर अब क्या महज एक मरीचिका नहीं? मृग के आवरण में आदमी की तरह। आवरण को जरा हटाओ तो हिंसा, नफरत रह जाती है। आधुनिक निर्माण में मशीन से होती पत्थर कटाई के कारण कारीगरों के फेफड़े सिलिकोसिस से पीड़ित होते हैं। आवरण हटते ही उनकी छटपटाहट कराह सुनाई पड़ती है। भगवान साकार है या निराकार, पता नहीं, पर भगवान भाज्य नहीं है। वह ईसान की रूह में बसता है। मंदिर की मूर्ति में उसके सामूहिक विवेक के दर्शन हो सकते हैं, पर अब वहां न तो विवेक बसा है, न ही भगवान। वहां केवल काया है, मूर्त, जिसमें प्राण नहीं। उस मूर्त को आभूषणों के सलाखों से सजाया गया है। पर राम? वह तो कभी के चले गए। उन्होंने तीर चलाकर पूंजी के मारिच को देख लिया। वह मंदिरनुमा पूंजी के अड्डों से कब के आजाद हो चुके। मंदिर जो शायद पूंजी प्राथन्य के ही आलय रह गए। राम तो हम सबमें वैसे ही हैं। हम सबमें बसे किसी अल्लाह, ईशु से उनको कोई गुरेज नहीं। वह तो बस रहते हैं।

मनुष्य को पशु होने से रोकने के लिए, पाश से मुक्त करता है। मारीच को भी पाश मुक्त किया, तो वह क्यों भला मंदिर में बंधने लगे?

सो, जो सब चोरी में लगे हैं, वे जान लें कि उन्होंने राम की चोरी नहीं की है। वह चुराया नहीं जा सकता। जो लुटा, वह मंदिर नहीं है। पूंजी का केन्द्र है। वहां भगवान नहीं बसते। राम समृद्ध हैं। आस्था को जरूर चाहिए कि वह जाने की उसे कहां रमना है। दान पेटी की जगह करुणा को किस देहरी चढ़ना है। असल मंदिर कहां है और कहां मात्र मरीचिका। शायद तभी हे राम कहकर देह त्यागने वाला कभी किसी मंदिर में राम को ढूँढने नहीं गया। ■

योगी जी, हनुमानगढ़ी को तो बरख्श दीजिए

कृष्ण प्रताप सिंह

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में, जहां प्रदेश की योगी आदित्यनाथ सरकार बसती है, हिन्दी और उर्दू के अपने समय के एक दिग्गज शायर हुआ करते थे - कृष्ण बिहारी 'नूर' (8 नवंबर 1926 - 30 मई 2003)।

अगर आज वह हमारे बीच होते और योगी को अयोध्या की एक सभा में यह कहते हुए देखते या सुनते कि 'इन्होंने (विपक्षी दलों कांग्रेस और समाजवादी पार्टी ने) हमारी (अयोध्या की) पवित्र हनुमानगढ़ी की सीढ़ियों पर नमाज पढ़वाने का पाप किया था', तो उनके मुँह से बरबस उनका यह शे'र फूट पड़ता : 'सच घटे या बड़े तो सच न रहे, झूठ की कोई ईतिहा ही नहीं!'

और फैजाबाद वाले मरहूम शमीम अहमद 'शमीम' होते (जो उस वक्त भी, जब योगी का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद के बहाने आसमान सिर पर उठाए फिर रहा था, कवि सम्मेलनों और मुशायरों में बेलौस होकर कहा करते थे : तुम कहो, कहते अगर रामजन्म भूमी है। भाई, ये पाक जमीं हमने भी तो चूमी है।) तो मुस्कुराते हुए पृष्ठने लग जाते कि भाई, आपका 'इकबाल' भी बुलंद रहे और 'परहेज' भी, लेकिन हनुमानगढ़ी की सीढ़ियों पर तो क्या, कहीं भी नमाज पढ़ना या पढ़ाना पाप क्योंकर हो सकता है? उसे पढ़ने वाला तो अपने तई उसके जरिये परमात्मा के प्रति अपना सबसे पहला, अहम और अनिवार्य फर्ज ही अदा करता और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता ही व्यक्त करता है। और कौन-सा धर्म है भला जिसके अनुयायी परमात्मा के प्रति अपने फर्ज की फ़ि़र्र नहीं करते?

दुख की बात है कि अब तक किसी ने भी यह सवाल नहीं पूछा। खुद को योगी से असहमत बताने वाले लोग भी बस सफ़ाई ही सफ़ाई दिए जा रहे हैं कि नहीं-नहीं, हनुमान गढ़ी की सीढ़ियों पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ, कभी नहीं हुआ।

वे बता रहे हैं कि लगभग 23 साल पहले 2003 की जिस घटना को लेकर योगी, निस्संदेह, राममंदिर की चढ़ावा चोरी में संघ परिवार की फंस्त की ओर से लोगों का ध्यान हटाने के लिए, गढ़े मुँदे उखाड़ रहे हैं, उस दौरान हनुमानगढ़ी के तत्कालीन महंत ज्ञानदास ने उसके परिसर में स्थित अपने आवास में रोजा इफ्तार जरूर कराया था, जिसमें बाबरी मस्जिद के पक्षकार हाशिम अंसारी सहित अयोध्या के कई मुस्लिम नेता शामिल हुए थे।

वह सद्भाव के प्रसार की ऐसी कोशिश थी, जिसके बाद ईद आई तो मुस्लिम नेता सादिक अली (जो अपने को हनुमान भक्त बताते और बाबू टेलर नामक अपनी टेलरिंग शॉप में भगवान राम कहे या रामलला विराजमान की पोशाकें सिलते थे), ने पास में ही रामकोट कटरा क्षेत्र की एक मस्जिद के बगल के अहाते में आयोजित मिलन समारोह में हनुमान

चालीसा का पाठ करवाया था और उसकी प्रतियां भी बांटी थीं। उस समारोह में महंत ज्ञानदास सहित अनेक संत महंत शामिल हुए थे।

गौरतलब है कि इन दोनों ही आयोजनों में से किसी में भी कोई राजनीति नहीं थी। उसके पीछे कोई प्रेरणा थी तो वह अवध की गंगा जमुनी तहजीब की ही थी। इसलिए कि न उसके बाद महंत ज्ञानदास किसी पार्टी में शामिल होने या चुनाव का टिकट मांगने गए और न सादिक अली, जबकि वे लगातार देख रहे थे कि नफरत की राजनीति करने वाले उसकी बिना पर चुनाव लड़कर सांसद और विधायक बन जा रहे हैं। ऐसे में बेहतर होता कि योगी अपने भाषण में यह सब कहने से पहले और उनके कहे पर सफ़ाई देने वाले उससे पहले इस हनुमान गढ़ी के बारे में ठीक से जान लेते। खासकर उसके उस इतिहास के बारे में, जिसमें सब कुछ साझा है, यानी गंगा-जमुनी। इसलिए धर्मस्थल के रूप में तो उसकी भरपूर प्रतिष्ठा है ही, हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे के प्रतीक के रूप में भी है।

दरअसल, अवध के नवाब शुजाउद्दौला (1754-1775) ने उसके निर्माण के लिए न सिर्फ़ भूमि उपलब्ध कराई थी, बल्कि अपने हिन्दू राजा टिकैत राय को राजकोष के खर्च पर उसे इस तरह बनवाने का दायित्व सौंपा था कि वह पूरी तरह बेमिसाल लगे। इसे लेकर दो किंवदंतियां हैं। पहली यह कि शुजाउद्दौला के एक बेटे को कोई असाध्य बीमारी थी और

योगी का बयान आपत्तिजनक है। बेहतर होता, वह यह सब कहने से पहले और उनके कहे पर सफाई देने वाले इस हनुमान गढ़ी के बारे में ठीक से जान लेते। खासकर उसके उस इतिहास के बारे में, जिसमें सब कुछ साझा है, यानी गंगा-जमुनी

फोटो:नेदी किर्लोस्कर



जाने के बाद वह गढ़ी का मताधिकारप्राप्त सदस्य हो जाता है। बताते हैं कि छठे गद्दीनशीन बाबा बलरामदास के समय गढ़ी के साधुओं की संख्या छह सौ से ज्यादा हो गई और प्रबंध में समस्याएं सामने आने लगीं, तो उनकी चार पट्टियां बनाई गईं-सागरिया, बसंतिया, उज्जैनिया और हरिद्वारी। व्यवस्था दी गई कि ये चारों निर्वाणी अखाड़े से ही संबद्ध रहेंगी। प्रत्येक पट्टी के तीन उपविभाग भी बनाए गए-जमात खालसा, जमात हुंड़ा और जमात झुंडी। नियमानुसार गढ़ी में कुल तीन पंचायतें हैं-पट्टी पंचायत, अखाड़ा पंचायत और अखाड़ा कार्यकारिणी की पंचायत।

पहले चारों पट्टियों के मतदाता अपना महंत चुनते हैं, फिर अखाड़ा पंचायत चुनी जाती है। अंत में अखाड़े और चारों पट्टियों से चुने गए 24 पंच अपना सरपंच चुनते हैं, जो अखाड़ा कार्यकारिणी की पंचायत का सरपंच कहलाता है। उसका कार्यकाल दो साल होता है और उसको गद्दीनशीन के समक्ष सच्चाई, ईमानदारी और निष्पक्षता की शपथ लेनी पड़ती है। गद्दीनशीन को भी अखाड़े के पंच ही चुनते हैं। बैठके आहूत करने और उनकी सूचनाएं देने-दिलाने के लिए 'कोतवाल' नाम का एक पदाधिकारी होता है, जबकि हिसाब-किताब रखने वाले पदाधिकारी को 'गोलकी' या 'मुख्तार' कहते हैं। पट्टियों की हर जमात से हर तीन वर्ष के लिए ग़लब की

भी मतदाताओं द्वारा ही नियुक्त किए जाते हैं।

अखाड़ा कार्यकारिणी की पंचायत में कोरम तब पूरा माना जाता है, जब कम-से-कम 16 पंच उपस्थित हों। सारे फैसले बहुमत से किए जाते हैं और किसी मसले पर पक्ष-विपक्ष के मत बराबर हो जाएं तो सरपंच का मत निर्णायक होता है। पंचायत गढ़ी की परंपराओं का पालन न करने या उसकी प्रतिष्ठा भंग करने वालों पर दंड तय कर सकती है। उनका सेर-सीषा, जो किसी साधु के सम्मान का प्रतीक है, बंद कर सकती है।

गढ़ी शुरू से ही मौरूसी या हाकिमी के बजाय पंचायती मठ रही और लोकतंत्र और सामूहिकता के सिद्धांत पर चलती रही है। उसके साधुओं की चारों पट्टियों को सत्ता संघर्ष से बचाने के लिए गद्दीनशीन बाबे-बाबे से हर पट्टी से चुना जाता और महज अखाड़े के प्रति उत्तरदायी होता है। पट्टियों के महंतों के चुनाव में भी ध्यान रखा जाता है कि समान अवसर के सिद्धांत का उल्लंघन न हो। इसकी तीनों जमातों से बारी-बारी से महंत चुने जाते हैं और जिस जमात की बारी होती है, वह चुनाव में हिस्सा नहीं लेती।

अब योगी आदित्यनाथ इस हनुमान गढ़ी को भी अपनी संकीर्ण राजनीति के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं तो उनसे यही कहा जा सकता है कि कृपया कम-से-कम उसे तो बख्श दें। ■



क्या अमेरिका ट्रंप पर लगा सकता है अंकुश?

अशोक स्वैन

डॉनल्ड ट्रंप ने ईरान के खिलाफ अमेरिका की जंग फिर से शुरू कर दी है, लेकिन उस बुनियादी सवाल का जवाब अब भी नहीं दिया गया है जिसका हल पहला बम गिरने से पहले ही मिल जाना चाहिए था: अखिर अमेरिकी सैन्य अभियान कैसा राजनीतिक नतीजा चाह रहा है? इस युद्ध का मौजूदा दौर किसी पुरानी बंद गली में वापसी भर नहीं। इसकी शुरुआत एक अधिक आक्रामक दुश्मन के खिलाफ बेहद सीमित सैन्य विकल्पों, डगमगाती कूटनीतिक साख और अमेरिकी सैनिकों और सहयोगियों के लिए मंडराते भारी खतरे यानी और भी बदतर स्थिति से हुई है।

युद्ध के पिछले चरण से उम्मीद थी कि वह अमेरिका की बेपनाह ताकत को दिखाएगा। लेकिन इसके उलट, तेहरान ने दबाव में जिंदा रहना और इसका सफलतापूर्वक जवाब देना सीख लिया। ईरान ने वाशिंगटन के हथियारों का दम भी देख लिया है और उन दबावों को भी समझ लिया है जो ट्रंप के फैसलों को तय करते हैं। ईरानी नेता जानते हैं कि अमेरिका को पछाड़ने के लिए उन्हें बस होर्मुज जलडमरूमध्य को असुरक्षित बनाए रखना है, खाड़ी में अमेरिकी ठिकानों को निशाने पर रखना है, ऊर्जा की कीमते बढ़ानी हैं और क्षेत्र में अमेरिका के सहयोगियों के लिए विश्वसनीय खतरा बने रहना है। अमेरिका के विपरीत, ईरान के पास एक साफ-सुथरी और सटीक रणनीति है।

अमेरिका और ट्रंप के लिए यह दोबारा शुरू हुई बमबारी भारी-भरकम लागत वाली एक ऐसी सैन्य कवायद बन गई है, जिसका कोई स्पष्ट रणनीतिक परिणाम नहीं है। यह युद्ध ईरान के परमाणु कार्यक्रम और इजराइल के लिए उससे कथित तौर पर पैदा होने वाले खतरे के दावों से शुरू हुआ था। लेकिन अब यह होर्मुज से गुजरने वाले जहाजों के नियंत्रण की जंग बन चुका है। ट्रंप का कहना है कि अमेरिका को इस जलडमरूमध्य को खुला रखना होगा, लेकिन युद्ध चुनने से पहले भी तो यह खुला ही था! यानी अमेरिका इस स्थिति को फिर से हासिल करने में अपनी जान, हथियार और कूटनीतिक साख गंवा रहा है, जिसे उसके अपने ही हस्तक्षेप ने तबाह कर दिया।

इसमें शक नहीं कि ईरान जख्मी है, लेकिन वह अब भी जोखिम उठाने को तैयार है। उसके हमलों का दायरा- जो पहले केवल सैन्य ठिकानों तक सीमित था- अब बहरीन, कतर, कुवैत, ओमान और जॉर्डन के बुनियादी ढांचों तक फैल चुका है। चंद हमले ही जहाजों की आवाजाही को ठप कर सकते हैं, बीमा कंपनियों को डरा सकते हैं और अमेरिका के खाड़ी सहयोगियों को यह रणनीतिक हिसाब लगाने पर मजबूर कर सकते हैं कि क्या अमेरिकी ठिकानों को अपने यहां पनाह देना वाकई फायदे का सौदा है?

अयातुल्लाह अली खुमैनी का जनाजा बहुत कुछ बयां करने वाला था। कई शहरों में उमड़ी भारी भीड़ सबूत थी कि अधिसंख्य ईरानी अमेरिका के खिलाफ राष्ट्रीय प्रतिरोध का समर्थन करती है। उनके देश पर हमला हुआ तो वे एकजुट हो गए। इस युद्ध ने जनता के आक्रोश का रुख वाशिंगटन की ओर मोड़ दिया है। इस जनाजे ने नए नेतृत्व को भरोसा दिया होगा कि एक अडिग और आक्रामक ईरान को जनसमर्थन हासिल है। इसने बदला लेने की जबरदस्त जनभावना को भी जन्म दिया है, जिसने कूटनीति की गुंजाइश को समेट दिया



अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

है और उन कट्टरपंथियों के हाथ मजबूत किए हैं जिनका मानना है कि कोई भी समझौता अमेरिकी दबाव को बढ़ाने वाला होगा।

वाशिंगटन सैन्य ठिकानों से आगे बढ़कर हमलों का दायरा बढ़ाकर इसी तर्क को और हवा दे रहा है। आम नागरिक इसे सामूहिक सजा के तौर पर भुगत रहे हैं। जब तक ईरान बातचीत की मेज पर न आए, तब तक पावर प्लांटों और पुलों को तबाह करने की ट्रंप की धमकी उनके बलप्रयोग के इरादे को दुनिया के सामने बेनकाब करती हैं। यह न केवल गैर-कानूनी और नैतिक रूप से बेतुका है, बल्कि रणनीतिक रूप से भी बेहद अदूरदर्शी। टूटी हुई जल प्रणालियां, तबाह परिवहन नेटवर्क और मारे गए नागरिक केवल आक्रोश को गहरा करते हैं और ईरान के जवाबी हमलों को सही ठहराने का काम करते हैं।

हवाई ताकत बुनियादी ढांचे को तबाह तो कर सकती है, लेकिन इस विशाल और स्वाभिमानी देश को समर्पण के लिए मजबूर नहीं कर सकती। ईरान नौ करोड़ आबादी वाला देश है, जिसकी भौगोलिक बनावट बेहद कठिन है और जिसकी क्षमताएं पूरे क्षेत्र में बिखरी हुई हैं। अगर बमबारी समर्पण नहीं करा सकती, तो वाशिंगटन के पास केवल दो ही रास्ते बचते हैं: या तो वह एक आत्मघाती जमीनी हमले और कब्जे की सोचे, या फिर रणनीतिक रूप से पीछे हट जाए।

अमेरिका की सैन्य बढ़त भी धीरे-धीरे कमजोर पड़ रही है। फरवरी के अंत से अप्रैल के मध्य तक चले 40



अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और उनके रक्षा मंत्री पीट हेगसेथ (सबसे दाईं ओर) भले ही मुश्किलों का सामना हिम्मत से करने का दिखावा करें, लेकिन ईरान के साथ युद्ध में सैनिकों के नुकसान के अलावा, अमेरिका की ताकतवर युद्ध मशीन की मारक क्षमता भी कम हो रही है और मिसाइलों व इंटरसेप्टर के खत्म हो चुके स्टॉक को फिर से तैयार करने में कई साल लगेंगे

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हिंसा के बीच भी मनुष्यता के छोटे-छोटे क्षण जीवित रहते हैं। यही भीष्म साहनी की रचनात्मक दृष्टि है। वह निराशा के भीतर भी मनुष्य की संभावना खोजते हैं।

उनके अन्य उपन्यास—‘झरोखे’, ‘कड़ियों’, ‘बसंतों’, ‘मय्यादास की माड़ी’, ‘कुंते’ और ‘नीलू नीलिमा नीलोफर’— भी भारतीय समाज के बदलते स्वरूप का बहुआयामी चित्र प्रस्तुत करते हैं। इन उपन्यासों में मध्यवर्ग, स्त्री, परिवार, इतिहास, प्रेम और सामाजिक परिवर्तन की जटिलताओं का गहरा विश्लेषण मिलता है। विशेष रूप से ‘मय्यादास की माड़ी’ इतिहास और वर्तमान के अंतर्संबंधों को समझने वाला महत्वपूर्ण उपन्यास है।

यदि भीष्म साहनी के कहानी-साहित्य की बात करें तो वह हिन्दी के श्रेष्ठ कहानीकारों में अग्रणी हैं। उनकी कहानियों में जीवन का साधारण-सा दिखने वाला प्रसंग धीरे-धीरे व्यापक सामाजिक अर्थ ग्रहण कर लेता है। वह चमत्कार पैदा नहीं करते, बल्कि सामान्य जीवन की परतों के भीतर छिपे असाधारण यथार्थ को सामने लाते हैं।

‘चीफ की दावत’ सत्ता, नौकरशाही और मध्यवर्गीय मानसिकता पर तीखा व्यंग्य है। ‘अमृतसर आ गया है’ विभाजन की त्रासदी का ऐसा मार्मिक आख्यान है जिसमें भय, असुरक्षा और अविश्वास का वातावरण पाठक को भीतर तक झकझोर देता है। ‘पाली’ सांप्रदायिक विभाजन के बीच मानवीय रिश्तों की जटिलता को अत्यंत संवेदनशील ढंग से प्रस्तुत करती है। ‘बॉम्बू’, ‘शोभायात्रा’ और ‘निशाचर’ जैसी कहानियां भी सामाजिक विडंबनाओं का सशक्त चित्रण भीष्म साहनी के पात्र किसी आदर्श लोक से नहीं आते। वे हमारे आसपास के साधारण लोग हैं। उनकी कमजोरियां भी हैं और नैतिक शक्तियां भी। यही कारण है कि पाठक उनके पात्रों से आत्मीय संबंध स्थापित कर पाता है।

नाटककार के रूप में भी उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। ‘हानूश’, ‘कबीरा खड़ा बाजार में’, ‘माधवी’ और ‘मुआवजे’ जैसे नाटक हिन्दी रंगमंच की उल्लेखनीय उपलब्धियां हैं। इन नाटकों में इतिहास और मिथक के माध्यम से समकालीन प्रश्नों की पड़ताल की गई है। ‘कबीरा खड़ा बाजार में’ केवल संत कबीर का नाटक नहीं है; यह धार्मिक कट्टरता, सत्ता और सामाजिक पाखंड के विरुद्ध मनुष्य की स्वतंत्र चेतना का नाटक है। ‘माधवी’ स्त्री की स्थिति और सत्ता की नैतिकता पर गंभीर प्रश्न उठाता है।



अशोक स्वैन स्वीडन की उसला युनिवर्सिटी में पीएच डी कॉन्फ्रेंस पर हिंसक के प्रोफेसर हैं

भीष्म साहनी का संस्मरण 'आज के अतीत' हिन्दी आत्मकथात्मक लेखन की उत्कृष्ट कृतियों में शामिल है। इसमें केवल व्यक्तिगत जीवन नहीं, बल्कि पूरे साहित्यिक और सांस्कृतिक परिवेश का जीवंत चित्र उपस्थित होता है। इस पुस्तक से उनके व्यक्तित्व की विनम्रता, आत्मालोचन की क्षमता और मानवीय दृष्टि का परिचय मिलता है।

अनुवाद के क्षेत्र में भी उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने रूसी साहित्य की अनेक श्रेष्ठ कृतियों का हिन्दी में अनुवाद किया। इससे हिन्दी पाठकों का विश्व साहित्य से परिचय व्यापक हुआ। रूसी यथार्थवादी साहित्य की मानवीय दृष्टि ने भी उनके अपने लेखन को गहराई प्रदान की।

भीष्म साहनी की भाषा विशेष चर्चा की अपेक्षा रखती है। उन्होंने भाषा को कभी प्रदर्शन का माध्यम नहीं बनाया। उनकी भाषा सहज, बोलचाल के निकट, पारदर्शी और संप्रेषणीय है। उसमें अनावश्यक अलंकरण नहीं, बल्कि अनुभव की प्रामाणिकता है। यही कारण है कि उनका साहित्य सामान्य पाठक और गंभीर आलोचक—दोनों को समान रूप से आकर्षित करता है।

उनकी रचनाओं का सबसे बड़ा मूल्य उनका गहरा मानवीय दृष्टिकोण है। वह किसी भी विचारधारा को मनुष्य से बड़ा नहीं मानते। उनकी दृष्टि में धर्म तभी सार्थक है जब वह मनुष्यता की रक्षा करे; राजनीति तभी अर्थपूर्ण है जब वह मनुष्य की गरिमा को सुरक्षित रखे; साहित्य तभी सफल है जब वह पीड़ित, वंचित और हाशिये पर पड़े लोगों की आवाज बन सके।

प्रगतिशील लेखक आंदोलन से जुड़े होने के बावजूद उनकी रचनाएं नारेबाजी से मुक्त हैं। वह विचार को जीवानुभव के भीतर रूपांतरित करके प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि उनका साहित्य वैचारिक होते हुए भी कलात्मक बना रहता है। उन्होंने सिद्धांतों को पात्रों पर आरोपित नहीं

पूरे खाड़ी क्षेत्र के खाद्य आयात के लिए भी। अमेरिकी भी इससे होने वाली महंगाई से अछूते नहीं रहेंगे। युद्ध को दोबारा शुरू करने से केवल वही घरेलू दबाव दोगुना हुआ है जिसने ट्रंप को युद्धविराम स्वीकार करने पर मजबूर किया था, और अब दोनों पक्षों के बीच आपसी अविश्वास अपने सर्वकालिक उच्च स्तर पर है।

क्या इससे निकलने का कोई रास्ता है? मध्यस्थों द्वारा प्रस्तावित एक अस्थायी युद्धविराम इस चक्र को फिलहाल रोक सकता है, लेकिन स्थायी समाधान के लिए वाशिंगटन को इस दिवास्वप्न को छोड़ना होगा कि बातचीत केवल ईरान के समर्पण पर मुहर लगाने की औपचारिकता है। अमेरिका एक सीमित समझौते की दिशा में आगे बढ़ सकता है जिसमें होर्मुज के माध्यम से सुरक्षित नौवहन, नागरिक जहाजों की सुरक्षा और ईरान की परमाणु गतिविधियों पर सत्यापन योग्य अंकुश के बदले हमलों पर परस्पर रोक और ईरान के खिलाफ प्रतिबंधों में चरणबद्ध राहत शामिल हो। ओमान और कतर जैसे देशों, यूरोपीय सरकारों और संयुक्त राष्ट्र को ऐसे नतीजे की निगरानी और गारंटी देने में भूमिका निभानी चाहिए। कूटनीति यहां थोड़ी उलझी दिख सकती है, क्योंकि वास्तविक कूटनीति के लिए जरूरी है कि दोनों पक्षों को कुछ न कुछ ऐसा जरूर मिले जिससे वे अपने देश में मुंह दिखा सकें।

इससे भी मुश्किल सवाल यह है कि क्या अमेरिका अपने ही राष्ट्रपति पर अंकुश लगा सकता है? संवैधानिक रूप से वह ऐसा कर सकता है। युद्ध की घोषणा करने, बल प्रयोग को अधिकृत करने और युद्ध प्रयासों के लिए पैसे की मंजूरी की ताकत अमेरिकी कांग्रेस के पास हैं। लेकिन अगर राष्ट्रपति अपनी ही सनक पर चलने के लिए आमादा हो, तो वह कानूनी असस्पष्टताओं का फायदा उठा सकता है, आक्रामक कार्रवाई को ‘आत्मरक्षा’ करार दे सकता है और यह दावा कर सकता है कि युद्ध में हुआ हर विराम साठ दिनों की समय-सीमा की घड़ी को फिर से रीसेट कर देता है।

ऐसी स्थिति में अमेरिकी कांग्रेस को केवल असंतोष व्यक्त करने से कहीं ज्यादा करना होगा। वह ईरान के खिलाफ आक्रामक सैन्य अभियानों का फंड रोक सकती है, बशर्ते मामला अमेरिकी बलों को किसी आसन्न हमले से बचाने का न हो। वह इस प्रतिबंध को रक्षा बजट से जोड़ सकती है, सार्वजनिक रूप से कानूनी औचित्य की मांग कर सकती है, अधिकारियों को सम्मन भेज सकती है और हमलों के लक्ष्यों, हताहतों, कीमत और उद्देश्यों पर लगातार सुनवाई कर सकती है। महाभियोग तो अंतिम उपाय है, लेकिन यह तब तक राजनीतिक रूप से असंभव है जब तक कि उनकी अपनी ही पार्टी के सदस्य उनसे अलग न हो जाएं। इसमें जनता की भी एक भूमिका है। चुनाव कांग्रेस को बदल सकते हैं, और लगातार बना रहने वाला जनाक्रोश अवज्ञा की कीमत को बढ़ा सकता है।

अमेरिका के पास इस राष्ट्रपति को रोकने के तंत्र तो मौजूद हैं। कमी संवैधानिक अधिकार की नहीं बल्कि उस राजनीतिक साहस की है जो ट्रंप को अमेरिका को एक ऐसी राह पर बढ़ाने से रोक सके जहां हर गुजरता मील वापसी को और भी महंगा बनाता हो। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उसला युनिवर्सिटी में पीएच डी कॉन्फ्रेंस पर हिंसक के प्रोफेसर हैं

मनुष्यता की पक्षधर रचनात्मकता

भीष्म साहनी का साहित्य मनुष्य की पीड़ा, जिजीविषाऔर नैतिक संभावनाओं का विश्वसनीय दस्तावेज है

शैलेन्द्र चौहान

हिन्दी साहित्य के आधुनिक इतिहास में कुछ लेखक ऐसे हैं जिनकी रचनाएं समय के साथ पुरानी नहीं पड़तीं, बल्कि हर नए सामाजिक और राजनीतिक संकट के बीच अधिक प्रासंगिक होकर सामने आती हैं। भीष्म साहनी ऐसे ही रचनाकार हैं। उन्होंने साहित्य को केवल सौंदर्यबोध या मनोरंजन का माध्यम नहीं माना, बल्कि मनुष्य और समाज के बीच टूटते हुए संबंधों को समझने और उन्हें मानवीय मूल्यों के आधार पर पुनर्स्थापित करने का सृजनात्मक उपक्रम बनाया।

भीष्म साहनी का साहित्य किसी विचारधारा का घोषणापत्र नहीं, बल्कि मनुष्य की पीड़ा, उसकी जिजीविषा, उसकी विडंबनाओं और उसकी नैतिक संभावनाओं का विश्वसनीय दस्तावेज है।

आज जब दुनिया सांप्रदायिक तनाव, युद्ध, विस्थापन, असहिष्णुता और उपभोक्तावादी संस्कृति के दबावों से जूझ रही है, तब भीष्म साहनी का साहित्य पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है। उनकी रचनाएं हमें यह विश्वास दिलाती हैं कि साहित्य का अंतिम उद्देश्य मनुष्य को मनुष्य बनाए रखना है।

भीष्म साहनी का जन्म 8 अगस्त 1915 को रावलपिंडी (अब पाकिस्तान) में हुआ। विभाजन के बाद उन्हें विस्थापन का दर्द स्वयं झेलना पड़ा। यही अनुभव उनके साहित्य की संवेदना का आधार बना। उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में उच्च शिक्षा प्राप्त की, अध्यापन किया, कुछ समय सोवियत संघ में रहकर रूसी साहित्य का हिन्दी में अनुवाद किया और बाद में प्रगतिशील लेखक आंदोलन से सक्रिय रूप से जुड़े।

वह प्रसिद्ध अभिनेता एवं रंगकर्मी बलराज साहनी के छोटे भाई थे, किंतु उन्होंने अपनी अलग साहित्यिक पहचान निर्मित की। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सादगी और वैचारिक ईमानदारी थी। वह जीवन में जितने सहज थे, उनकी भाषा भी उतनी ही सहज रही। उन्होंने कभी कठिन शब्दावली या कृत्रिम शिल्प के सहारे पाठक को प्रभावित करने की कोशिश नहीं की। उनकी शक्ति जीवन के भीतर छिपे यथार्थ को पकड़ने में थी।

भीष्म साहनी का कथा-साहित्य हिन्दी यथार्थवाद की समृद्ध परंपरा का महत्वपूर्ण विस्तार है। प्रेमचंद से चली आ रही सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि उनके यहां आधुनिक समय

की जटिलताओं के साथ विकसित होती है। वह समाज को केवल वर्गीय या राजनीतिक दृष्टि से नहीं देखते, बल्कि मनुष्य की भीतरी संवेदनाओं और नैतिक द्वंद्वों को भी उतनी ही गंभीरता से चित्रित करते हैं।

उनका सर्वाधिक चर्चित उपन्यास 'तमस' हिन्दी साहित्य की कालजयी उपलब्धियों में गिना जाता है। यह केवल भारत-विभाजन का उपन्यास नहीं है, बल्कि सांप्रदायिक राजनीति की कार्यप्रणाली का गहन विश्लेषण भी है। उपन्यास का आरंभ एक मरे हुए सूअर को मस्जिद के निकट फेंकने की घटना से होता है, किंतु धीरे-धीरे स्पष्ट होता है कि दंगे अचानक नहीं होते; उन्हें योजनाबद्ध ढंग से तैयार किया जाता है। साधारण लोग सत्ता और राजनीति के खेल में मोहरे बन जाते हैं। यही कारण है कि 'तमस' किसी एक समुदाय को दोषी नहीं ठहराता, बल्कि सांप्रदायिकता की समूची मानसिकता को बेनकाब करता है।

आज जब दुनिया सांप्रदायिक तनाव, युद्ध, विस्थापन, असहिष्णुता और उपभोक्तावादी संस्कृति के दबावों से जूझ रही है, तब भीष्म साहनी का साहित्य पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है। उनकी रचनाएं हमें यह विश्वास दिलाती हैं कि साहित्य का अंतिम उद्देश्य मनुष्य को मनुष्य बनाए रखना है



मिट्टी का वह घर

गोंड आदिवासी शांति बाई मिट्टी के अपने घर की सैर कराती हैं, जिसे उन्होंने कई दशक पहले उन सामग्रियों से बनाया था जो आज मुश्किल से मिलती हैं

शौर्य शर्मा

शांति बाई प्यार से लकड़ी की चौखट पर हाथ फेरती हैं। गर्व से मुस्कुराते हुए वह मिट्टी से बनी उस पट्टिका को देखती हैं, जिस पर 1999 लिखा है। यह वही साल है, जब उन्होंने यह घर बनाया था। अब वह इस घर में नहीं रहतीं, लेकिन लगभग तीन दशक पहले अपने हाथों से प्यार से बनाए इस घर का उनकी और उनके परिवार की जिंदगी में आज भी खास महत्व है। यह घर अब अनाज और यादों, दोनों का खजाना बना हुआ है।

अब साठ की उम्र पार कर चुकीं शांति बाई ने मिट्टी का घर बनाना अपने मायके में बचपन के दिनों में सीखा था। वह याद करते हुए कहती हैं, “मैं मिट्टी गूँथने और दीवारों पर पलस्तर करने में हाथ बँटाती थी। हम न पढ़ें, न लिखें हैं, बस देखकर ही सीखे हैं।” शांति बाई कभी स्कूल नहीं गईं।

प्रेम सिंह धुवें से शादी के करीब 14 साल बाद, जब दोनों ने छत्तीसगढ़ के आदिवासी बहुल गांव बोदलपानी में अपना घर बनाने का फैसला किया, तब शांति बाई का यही हुनर काम आया। उन्हें पूरा भरोसा था कि वे दोनों मिलकर पारंपरिक गोंड आदिवासियों द्वारा बनाए जाने वाला मिट्टी का घर खुद बना सकते हैं।

कबीरधाम जिले की जमुनपानी ग्राम पंचायत में बने इस घर का कोई नक्शा कागज पर नहीं बनाया गया था। शांति बाई बताती हैं, “घर के नक्शे के लिए हमने जमीन में लकड़ियाँ गाड़कर कोने तय किए, चूने से लाइनें खींचीं और रस्सियों से यह तय किया कि दीवारें कहाँ बनेंगी। फिर

जमीन खोदी गई और मिट्टी, कोदो के पैंर (भूसे) और पानी के मिश्रण से एक फुट मोटी दीवारें खड़ी की गईं।” घर का निर्माण गर्मियों में किया गया, क्योंकि मध्य भारत की तेज गर्मी में मिट्टी जल्दी सूख जाती है।

अपने हाथों से बनाई गई नींव की गहराई दिखाने के लिए घुटनों की ओर इशारा करते हुए शांति बाई कहती हैं, “रोज चढ़ा दें दो फुट, सूख गए तो फिर चढ़ा दें मिट्टी ला।” मिट्टी के घर के दालान में दाखिल होते हुए, जहाँ उनके बाईं ओर एक कोठी बनी है, शांति बाई आगे कहती हैं, “हमने सिर्फ मजदूरी का पैसा दिया था। लकड़ी हमने खुद काटी, मिट्टी अपनी जमीन से ली और कोदो का पैरा अपनी फसल से मिला।” मिट्टी और भूसे से बनी इस कोठी में अनाज रखा जाता है। घर की पहली मंजिल पर भी अलग-अलग आकार की कई कोठियाँ बनी हुई हैं।

शांति बाई मुस्कुराते हुए हाथों से दिखाती हैं कि उन्होंने कैसे मिट्टी को आकार देकर कोठी के सामने ‘जय लक्ष्मी माँ’ लिखा था। उनके घर की बनावट में अनाज रखने की जगह सबसे अहम थी, क्योंकि खासकर सूखे गर्मियों के महीनों में यही परिवार की खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करती थी।

दीवारों की ओर इशारा करते हुए शांति कहती हैं, “फर्श को गोबर और पानी से लीपते हैं और दीवारों पर चूना या चूने वाली मिट्टी पोतते हैं।” यह मिट्टी के घरों की सालाना देखभाल का हिस्सा है, जिससे दीवारों और फर्श पर दरारें या ऊबड़-खाबड़पन नहीं आता। जब वे सभी इस घर में साथ रहते थे, तब वह और उनकी बहुएं मिलकर यह काम नियमित रूप से करती थीं।

सभी फोटो: शौर्य शर्मा



घर की छत खपरैल (मिट्टी की टाइलों) से बनी है। शांति बाई बताती हैं, “हमने लकड़ी के सांचे में खपरैल बनाई और यहीं भट्टे में पकाई थी।” वह आगे कहती हैं, “बांस के ढांचे पर इन खपरैलों को ठीक से जमाना अपने-आप में एक कला है। अब बहुत कम लोगों के पास यह हुनर बचा है।” आखिरी बार यह काम चार साल पहले हुआ था। आज टूटी हुई खपरैलों की दरारों से छनकर आती धूप दीवारों पर अलग-अलग आकृतियाँ बनाती है। तभी छत से लगातार आती ‘कच-कच’ की आवाज सन्नाटा तोड़ती है, जो इस बात का संकेत है कि सागौन की लकड़ी में दीमक लग चुकी है।

धीरे-धीरे जर्जर होने के बावजूद, ऐसे कई पुराने मिट्टी के घर आज भी रहने के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं,

खासकर गर्मियों में, क्योंकि वे स्वाभाविक रूप से ठंडे रहते हैं। सिर्फ तापमान ही नहीं, बल्कि खाना पकाने के लिए भी लोग इन्हें ज्यादा पसंद करते हैं, क्योंकि कम हवा वाले पक्के घरों में लकड़ी का चूल्हा जलाना मुश्किल होता है। शांति बाई कहती हैं, “अब वो पक्का घर में तो खाना नहीं बन सके, लकड़ी नहीं जल सके।” वह आज भी पुराने मिट्टी के घर में रहना और वहाँ खाना बनाना ज्यादा पसंद करती हैं। मिट्टी के घर की झिर्गदार दीवारें और छत चूल्हे पर खाना पकाने के लिए उसे उपयुक्त बनाती हैं।

कच्चे घर की मिट्टी की मोटी दीवारें पक्के घरों की तुलना में तापमान को बेहतर ढंग से संतुलित रखती हैं। शांति बाई कहती हैं, “गर्मी में भी दिक्कत होवे उसमें। जैसी व्यवस्था है, सब अपने हिसाब से रखते ही हैं मिट्टी का घर।” वह आगे जोड़ती हैं, “मिट्टी का घर गर्मियों में ठंडा और सर्दियों में गरम रहता है। इसमें कूलर या पंखे की जरूरत ही नहीं पड़ती।”

अपने पारंपरिक घर की याद को संजोए रखने के लिए इस दंपति ने नए घर में भी उसके कुछ हिस्सों को अपनाया है। इस घर का मध्यवर्ती तल लड़की से बना है, जिस पर मिट्टी, चूने और गोबर से पुताई की गई है। इसे तल को भंडारण के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। शांति बाई यहां एक नई कोठी बना रही हैं, ताकि पुराने घर का अनाज इसमें रखा जा सके। वह कहती हैं, “दस साल तक अनाज रख देंगे, कुछ नहीं होगा।” बोदलपानी गांव छत्तीसगढ़ की मैकल पहाड़ियों के बीच बसा है। यह मध्य प्रदेश की सीमा के पास, भोरमदेव वन्यजीव अभयारण्य के निकट स्थित है। यहां के अधिकांश निवासी गोंड या बैगा (विशेष रूप से संवेदनशील जनजातीय समूह) हैं।

करीब 150 परिवारों वाले इस गांव में पारंपरिक मिट्टी के घर और आधुनिक पक्के घर, दोनों तरह के मकान हैं। प्रधानमंत्री आवास योजना-ग्रामीण (पीएमएवाई-जी) और पीएम-जनमन योजना के तहत विशेष रूप से संवेदनशील जनजातीय समूहों (पीवीटीजी) के लिए किए गए प्रावधानों के कारण कई परिवारों ने पक्के मकान बनवाए हैं, खासकर जिनके पास पर्याप्त जमीन है।

प्रेम सिंह और शांति बाई के पास यहां लगभग साढ़े पांच एकड़ कृषि भूमि है, जिसमें से डेढ़ एकड़ शांति बाई के नाम है। धान, मोटे अनाज, अरहर, मक्का और सब्जियों की खेती करके परिवार ने वर्षों में इतनी बचत

कर ली कि वे एक पक्का घर बना सके। यह घर 2021 में करीब 10 लाख रुपये की लागत से बना, जबकि पुराने मिट्टी के घर को बनाने में उन्हें 50 हजार रुपये से थोड़ा अधिक खर्च आया।

*

शांति बाई पुराने मिट्टी के घर के बरामदे में बैठकर अपनी पोती के बालों में बादाम का तेल लगा रही हैं। संतोष भरे इस वातावरण के बीच शांति बाई की आवाज से अचानक नाराजगी झलकने लगी। अपने बड़े बेटे केदारनाथ का जिक्र करते हुए वह कहती हैं, “का बोलबे हम? अपना जमीन, अपना मर्जी।”

जब दोनों बेटों के बीच संपत्ति का बंटवारा हुआ, तो पुराना मिट्टी का घर केदारनाथ के हिस्से में आया। उसने अपना नया पक्का घर बनाने के लिए पुराने घर का एक हिस्सा गिरा दिया। इस बात से दुखी होकर शांति बाई और उनके पति अपने छोटे बेटे तिवेंद्रम के साथ रहने लगे।

तिवेंद्रम हंसते हुए कहते हैं, “क्या करें? अब तो हर कोई पक्का घर ही बनाता है।” लेकिन उनका मानना है कि ऐसे घर ज्यादा टिकाऊ नहीं होते। वह कहते हैं, “यह 50 साल में जर्जर हो जाएगा।” उनके अनुसार, एक मिट्टी का घर सौ साल तक भी टिक सकता है।

तिवेंद्रम बताते हैं कि समस्या यह है कि मिट्टी के घरों की देखभाल में काफी मेहनत और समय लगता है। छत की लकड़ी में दीमक लग जाए या बारिश में खपरैल टूट जाए, तो उसकी मरम्मत और बदलाव पर काफी काम करना पड़ता है। तिवेंद्रम, जो 38 साल के हैं और धान की खेती करते हैं, कहते हैं, “लकड़ी की समस्या है आजकल।” उनका इशारा जंगल से मिलने वाली लकड़ी और अन्य वन उपज पर हाल के वर्षों में लागू पाबंदियों की ओर है।

शांति बाई कहती हैं, “बहुत-सी चीजें बदल गई हैं। जैसे कि हम कैसे घर बनाते हैं, क्या उगाते हैं, क्या खाते हैं और जंगल से क्या मिलता है।” वह आगे कहती हैं, “अब हम कोदो-कुटकी नहीं उगाते, क्योंकि उसका अच्छा दाम नहीं मिलता। हम धान उगाते हैं, क्योंकि सरकार वही खरीदती है। फिर मिट्टी का पूरा घर बनाने के लिए कोदो का पैरा कहाँ से आएगा? ये सब जुड़े हैं।” ■

स्रोत: ruralindiaonline.org



पारंपरिक गोंड घर की छत जो मिट्टी की खपरैलों, लकड़ी की बल्लियों और बांस से बनी है। केदारनाथ का पक्का और उनके माता-पिता द्वारा बनाया मिट्टी का घर। (ऊपर) भवान पर रत्नी कुंभनी के साथ तिवेंद्रम और मिट्टी की बनी सीढ़ियों को पहली मंजिल तक जाती हैं

शांति बाई कहती हैं कि चीजें बदल गई हैं। जैसे कि हम कैसे घर बनाते हैं, क्या उगाते हैं, क्या खाते हैं और जंगल से क्या मिलता है। अब हम कोदो-कुटकी नहीं उगाते, क्योंकि उसका अच्छा दाम नहीं मिलता। धान उगाते हैं, क्योंकि सरकार वही खरीदती है। फिर मिट्टी का घर बनाने के लिए कोदो का पैरा कहाँ से आएगा?



नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर मुंबई के हृदयस्थल में, बीकेसी से सटे, एयरपोर्ट के पास



इन सबके लिए सर्वोत्तम:

- कॉन्फ़ेरेन्स/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशन
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है

-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे

-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे



बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258

या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051